Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संस्थापक-सम्पादक
यशदेव शल्य

उन्मीलन

मानसिक हिन्द स्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

वर्ष 35, अंक 2
जुलाई-दिसम्बर, 2021

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वर्ष 35, अंक 2 जुलाई–दिसम्बर, 2021

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

संस्थापक–सम्पादक
यशदेव शल्य

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

दर्शन प्रतिष्ठान

जयपुर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परामर्शदाता

1. रामजी सिंह, 104, सन्याल इन्क्लेव, बुद्धमार्ग, पटना–800001
2. अशोक वाजपेयी, सी–60, अनुपम को–ऑपरेटिव ग्रुप हाउसिंग सोसायटी, वसुन्धरा एन्क्लेव, दिल्ली–110096
3. रमेशचन्द्र शाह, एम. 4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल–462003
4. अशोक वोहरा, सी–748, विकासपुरी, नई दिल्ली–110018

संस्थापक-सम्पादक

यशदेव शल्य

सम्पादक

1. अम्बिकादत्त शर्मा, सी.–37, गौर नगर, विश्वविद्यालय परिसर, सागर–470003 दूरभाष 07582–264587 मो. 09406519498
2. प्रदीप कुमार खरे, आर.बी. 72, इण्डस गार्डन, गुलमोहर, भोपाल–462039, दूरभाष 0755–2427461, मो. 09425029308

ISSN 0974 0053
UNMEELAN (Refereed Journal), U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310

वार्षिक शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 100/–
संस्थाएं : रु. 200/–

आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 2000/–
संस्थाएं : रु. 5000/–

आजीवन/वार्षिक सदस्यता हेतु राशि "प्रधान–सम्पादक – उन्मीलन" के पक्ष में बैंक ड्राफ्ट (सागर, म.प्र. पर देय) निम्न पते पर भेजें – अम्बिकादत्त शर्मा, दर्शन विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर–470003 (म.प्र.)

कमलनयन एवं अम्बिकादत्त शर्मा द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी–51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015 के लिए प्रकाशित।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुक्रमणिका

1. भारतीय ज्ञान परम्परा का सातत्य 5
बलराम शुक्ल

2. दर्शन का स्वरूप, विषय, प्रयोजन और इसकी उपयोगिता 91
देवेन्द्र नाथ तिवारी

3. पुस्तक–समीक्षा 137
हिंसा पर एक दार्शनिक बहस : हन्ना आरेंट और भारतीय परम्परा के संदर्भों में
पंकज श्रीवास्तव

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला

1.	संगीत और चिन्तन (शंकर पुरस्कार से सम्मानित)	–	मुकुंद लाठ	100.00
2.	धर्म–संकट	–	मुकुंद लाठ	200.00
3.	कर्म–चेतना के आयाम	–	मुकुंद लाठ	250.00
4.	क्या है?क्या नहीं है?	–	मुकुंद लाठ	150.00
5.	मूल्यतत्त्व–मीमांसा (शंकर, मंगलाप्रसाद तथा मूर्त्तिदेवी पुरस्कारों से सम्मानित)	–	यशदेव शल्य	200.00
6.	चिद्विमर्श	–	यशदेव शल्य	175.00
7.	तत्त्व–चिन्तन	–	यशदेव शल्य	200.00
8.	चित् की आत्म–गवेषणा	–	यशदेव शल्य	250.00
9.	काव्य–विमर्श	–	यशदेव शल्य	250.00
10.	मुख्य भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन–धाराएं	–	यशदेव शल्य भगवती	150.00

11. यशदेव शल्य की सभी मौलिक कृतियों का संग्रह अब 'यशदेव शल्य समग्र' शीर्षक से चार खण्डों में उपलब्ध है। प्रत्येक खण्ड का मूल्य 1,600/- तथा चारों खण्डों का मूल्य 6,400/- है। प्रकाशक :- डी.के. प्रिण्टवर्ल्ड (प्रा.) लि., वेदश्री, एफ- 395, सुदर्शन पार्क, नई दिल्ली-110015, दूरभाष 011-25453975

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भारतीय ज्ञान परम्परा का सातत्य

बलराम शुक्ल

सामान्यतः जब भी भारतीय परम्परा की चर्चा होती है तो उसका सम्बन्ध भूतकाल या अतीत से मान लिया जाता है। भूतकाल से सम्बन्धित किये जाते ही यह सामान्य धारणा बनने लगती है कि वर्तमान में उसकी व्याप्ति नहीं है अथवा उसका उपयोग नहीं है। इसका तात्पर्य यह भी लिया जाने लगता है कि इस ज्ञान परम्परा का कोई भविष्य नहीं है। भारतीय चिन्तन में परम्परा तथा आधुनिकता में इस प्रकार का कालबद्ध भेद नहीं देखा जाता है। भारत की चेतना को अतीत तथा वर्तमान में इस प्रकार द्विखण्डित करके देखना भारत में यूरोप के उपनिवेशवाद का सुविचारित लक्ष्य रहा है, जो दुर्भाग्यवश फलीभूत हुआ। यह भारत को सुदीर्घकाल तक राजनैतिक रूप से और फिर हमेशा के लिए मानसिक तौर से गुलाम बनाये रखने की साजिश थी। "भारत में यूरोप का उपनिवेशवाद सिर्फ भौगोलिक सीमाओं तक सीमित नहीं था, बल्कि उसकी जड़ें गहराई तक जाती हैं। इसने भारत के कालबोध को भी अपना बन्धक बनाने की चेष्टा की। उन्होंने भारत के वर्तमान को अतीत के विखण्डन के रूप में रखा और अतीत भले ही गौरवपूर्ण रहा हो, अब मृत और बीत चुकी चीज मान लिया गया।[1]" उपनिवेश करने वालों ने भारत को अतीत तथा वर्तमान में इसलिए विभाजित करना चाहा ताकि उसकी आत्मा विभाजित हो जाए। भारत के आत्मविभाजन के बिना वे वैसे ही सफल नहीं हो सकते थे जैसे उनके पहले आये शक, हूण, यवन और मुगल सफल नहीं हो सके थे।[2] औपनिवेशीकरण अंग्रजों के जाने के साथ समाप्त हो गया हो ऐसा नहीं है। भारत में औपनिवेशीकरण के अनन्तरभावी अनिवार्य दुष्प्रभाव के रूप में यूरोपीयकरण की प्रक्रिया स्वतन्त्रता के बाद से और अधिक तीव्रता से जारी है। पिछले दशकों में यह प्रयास और तीव्र हो गया है जब भारतविद्या के पश्चिमी शोधकर्ताओं द्वारा भारतीय ज्ञान परम्परा को नये सिरे से अतीत और वर्तमान में द्विखण्डित करके भारतीय अतीत की

उन्मीलन – वर्ष 35, अंक 2, जुलाई–दिसम्बर 2021
ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अपेक्षा वर्तमान को पिछले कई सौ वर्षों से अनुत्पादक और क्षीण सिद्ध करने की कोशिश की गयी।[3] वस्तुतः, यह एक प्रकार का बौद्धिक षड्यन्त्र है जो पाश्चात्त्य अध्येताओं की पिछली पीढ़ियों के द्वारा स्थापित की गयी परम्परा का नये सिरे से किया जा रहा निर्वाह है। पिछली शताब्दियों में जान बूझ कर भारतीय ज्ञान परम्परा और इसके सबसे प्रखर प्रवक्ता के रूप में विद्यमान पाण्डित्य परम्परा की न केवल उपेक्षा की गयी बल्कि उसे हीन कोटि का सिद्ध किया गया। यदि इस कालखण्ड का ठीक से अध्ययन किया जाये तो यह बात स्पष्ट हो सकेगी कि ये शताब्दियाँ भारतीय ज्ञान परम्परा के नवोन्मेष का समय थीं।[4]

शताब्दियों तक इस भारतीय ज्ञान परम्परा की उत्पत्ति तथा पोषण अनेक भाषाओं के माध्यम से होता रहा है। ये भाषाएँ हैं– वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश तथा आधुनिक भारतीय भाषाएँ। भिन्न–भिन्न कालखण्डों और क्षेत्रों की आवश्यकताओं के अनुसार इन भाषाओं की महत्ता और उनका प्रचलन अवश्य रहा, लेकिन सभी भाषाओं के माध्यम से भारतीय ज्ञान परम्परा तथा समान सांस्कृतिक भावधारा का संवहन होता रहा है। किसी एक भाषा के नेपथ्य में जाने से ऐसा नहीं हुआ कि उसमें निहित चिन्तन और ज्ञान की सामग्री नष्ट हो जाये। बल्कि वही भावधारा तत्कालीन भिन्न भाषा में प्रवाहित होती रही। यदि संस्कृत का उदाहरण लें तो स्पष्ट होगा कि उसकी भाषिक तथा साहित्यिक समृद्धि का कारण यह है कि वह हमेशा से क्षेत्रीय भाषाओं तथा साहित्य से पर्याप्त सामग्री लेती रही है। इसी तरह अर्वाचीन काल में क्षेत्रीय भाषाएँ संस्कृत का भाषिक एवं साहित्यिक सम्बल लेकर विकसित हुई हैं। इसलिए किसी एक भाषा के नेपथ्य में जाने का तात्पर्य ज्ञान परम्परा का नाश नहीं लगाना चाहिए। भारत में 'संस्कृत कल्चर' के नष्ट होने की बात अक्सर आधुनिक पाश्चात्त्य अध्येताओं द्वारा कही जाती है।[5] उनके दुराग्रहपूर्ण निहितार्थों को समझना आवश्यक है। 'संस्कृत कल्चर' भारतीय ज्ञान परम्परा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। संस्कृत में कुछ नया नहीं हो पाने की बात कहते हुए वे वस्तुतः भारतीय ज्ञान परम्परा को अनुत्पादक और कालबाह्य सिद्ध करना चाहते हैं। यह ध्यान रखना चाहिए कि यह ज्ञान परम्परा हमेशा से अपने आपको संस्कृत के साथ बहुत सारी स्थानीय भाषाओं में व्यक्त करती रही है। इस प्रकार भारत जैसे बहुभाषी देश में संस्कृत भाषा, ज्ञान परम्परा को व्यक्त करने वाली अनेक भाषाओं में से एक भाषा के रूप में रही है। संस्कृत का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आभासी क्षय (जो सिद्धान्त पूर्वाग्रहग्रस्त अल्पदृष्टि से प्रेरित है) किसी भी प्रकार भारतीय ज्ञान परम्परा (= संस्कृत कल्चर) के नाश का पर्याय नहीं है। किसी युग में किसी एक भाषा विशेष का अधिक प्रचलन तात्कालिक राजनैतिक अथवा सामाजिक कारणों से होता है। भारतीय परिदृश्य में संस्कृत पहले की तरह चाहे न हो किन्तु जैसे वह पहले भारतीय ज्ञान परम्परा को क्षेत्रीय भाषाओं में संक्रमित करके उनके माध्यम से और अधिक ऊर्जस्वी रूप में प्रवाहित होती रही है, अब भी यह कार्य कर रही है। जिस तरह अतीत में क्षेत्रीय भाषाओं ने संस्कृत से सामग्री लेकर अपने को सबल बनाया था उसी तरह अर्वाचीन युग में संस्कृत में लोकभाषाओं की बहुत सी सामग्री रूपान्तरित हो सकी है। अर्वाचीन युग में संस्कृत से सम्बद्ध जितने कार्य संस्कृत में हुए उससे कहीं अधिक कार्य क्षेत्रीय भाषाओं में हुए।[6] इस तरह आज लोकभाषाएँ संस्कृत का संरक्षण और पोषण कर रही हैं। इस प्रकार देश में संस्कृत की संस्कृति तो सर्वथा उपस्थित है, चाहे उसकी उपस्थिति का प्रतिनिधि माध्यम संस्कृत भाषा न रह गयी हो। संस्कृत जब भारतीय ज्ञान परम्परा की प्रमुख भाषा थी उस समय भी वह विभिन्न देशज भाषाओं की सामग्री को आगे ले आने के लिए साधन जैसी भाषा थी। लोकभाषाओं को स्वर देने का काम संस्कृत के माध्यम से वैसे ही होता था जैसे कि संस्कृत के पारम्परिक ग्रन्थों का प्रवचन, अध्यापन तथा व्याख्यान आज क्षेत्रीय भाषाओं के माध्यम से होता है। इस प्रकार भारत के भाषिक इतिहास में संस्कृत तथा क्षेत्रीय भाषाओं के साथ एक प्रकार का पारस्परिक सामंजस्य सदैव रहा है। दोनों प्रकार की भाषिक प्रवृत्तियों के सामंजस्यपूर्ण सहभाव ने भारतीय ज्ञान परम्परा को उच्चतम बिन्दु पर पहुँचाया है। इस प्रकार यदि हम ध्यान से देखें तो भारतीय ज्ञान परम्परा विविध भाषाओं को अपना माध्यम बना कर संवर्धित होती रही है।

उपनिवेशवाद और उसके बाद यूरोपीकरण के निरन्तर आघातों द्वारा भारत की छिन्न भिन्न आत्मप्रतिमा को परम्परा की अखण्डता और सातत्य के आलोक में समझकर ही पुनःप्राप्त और प्रतिष्ठित किया जा सकता है।[7] इसी से 'भारत के सनातन मूल्य बोध का पुनराविष्कार' हो सकता है। भारतीय ज्ञान परम्परा में अपने आपको निरन्तर नवीन और युगानुकूल बनाने की सामर्थ्य हमेशा से विद्यमान रही है। यही कारण है कि यह परम्परा सहस्राब्दियों तक टिकी रह सकी है। इसके पास अनेक ऐसी प्रविधियाँ हैं जिनका उपयोग करके वह अपने मूल स्वर को बिना छोड़े,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बदलते हुए समाज, काल तथा भाषा के अनुसार अपने को ढाल लेती है, और स्वयं को लोकोपयोगी प्रमाणित करते हुए प्रासंगिक बनी रहती है। बहुत बार परम्परा के नवीन वर्तमान अवतार हमें स्पष्टतः दिखाई नहीं देते क्योंकि वे लोक में इतने बद्धमूल हो चुके होते हैं कि उन्हें शब्दशः निर्देशित करना अपेक्षित नहीं होता है।[8] परम्परा के रूपान्तरण, परिवर्तन तथा परिवर्धन के कारण आपाततः उनके बदले हुए रूप को देखकर मात्र बाहरी स्वरूप देख पाने वाले लोग उसके लोप की घोषणा कर देते हैं। लेकिन ध्यान से देखने पर हमें यह बात पता चल जाती है कि वही परम्परा नये रूप धारण करके पुनः पुनः आ रही है। परम्परा की अखण्डता ज्ञान के स्रोतों को हमेशा प्रासंगिक बनाये रखती है। यदि हमारी परम्परा अखण्ड है तो उसको ठीक ठीक समझने, उस पर स्वस्थ राय बनाने के लिए तथा उसका उपयोग करने के लिए उसके मूल बौद्धिक स्रोतों का बारम्बार परामर्श अत्यन्त आवश्यक होता है। इसलिए यह ज्ञान परम्परा हमारे लिए निरन्तर प्रासंगिक है तथा उसकी युगानुकूल प्रस्तुति अनिवार्य।

1. परम्परा द्वारा अपनी परिधि का परिष्कार

मनुष्य समाज में समय के बदलने के साथ परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं जिसके फलस्वरूप मनुष्य के प्रयोजनों में भी परिवर्तन आते हैं। नये प्रयोजनों की पूर्ति के लिए नये साधनों की आवश्यकता होती है। युग के बदलने के साथ सारे सांस्कृतिक साधन पूरी तरह से उपयोगबाह्य हो जाएँ ऐसा नहीं होता है। परम्परा युग के अनुकूल वर्तमान प्रयोजनों के आधार पर अपनी परिधि का परिष्कार करती है। परम्परा को परम्परा कहते ही इसी कारण से हैं क्योंकि वह वर्तमान के साथ संवाद बनाये रखती है, अन्यथा वह रूढि अथवा कर्मकाण्ड बन जाए। परम्परा में रूढियों के बरक्स जीवन्तता और प्रवाह रहता है। लेकिन परम्परा पूरी तरह से अपने पुराने रूप में ही हमेशा स्वीकार्य रहे ऐसा भी नहीं होता। उसे वर्तमान के साथ जुड़ने तथा उपयोगक्षम होने के लिए अपने आप में कुछ परिवर्तन तथा परिवर्धन करने होते हैं।

वस्तुतः, परम्परा के दो छोर माने जा सकते हैं जिनमें रहकर वह गतिशील होती है। इसका पहला छोर अतीत में और दूसरा छोर वर्तमान में होता है। परम्परा का जो छोर वर्तमान में होता है वह उसी के प्राचीन रूप का युगानुकूल संस्करण होता है। वस्तुतः इसका अतीत ही इसके वर्तमान के रूप में परिवर्तित होता है। स्वयं अपने पूर्व रूप को पर रूप में परिवर्तित

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

करने के लिए उसे अपना पुनरन्वेषण करना होता है। हर जीवन्त परम्परा में अपने आपको पुनरन्वेषित करने की क्षमता विद्यमान होती है। पुनरन्वेषण के साथ परम्परा में जो रूपान्तरण होता है वह कई बार वर्तमान की आवश्यकताओं के दबाव में और कई बार आत्ममन्थन के कारण सम्भव होता है। परम्परा के इस पुनराविष्कार के लिए वह अपने आपमें कम से कम चार प्रकार से रूपान्तरण करती है– 1. कई बार परम्परा की सीमाएँ पुरानी होने के कारण अपर्याप्त होने लगती हैं जिनका वह विस्तार कर लेती है, 2. अनेक बार उसकी परिधि वर्तमान आवश्यकताओं की दृष्टि में अतिव्यापक होने लगती हैं, इन्हें उसे संकुचित करना पड़ता है, 3. कई बार परम्परा अपनी सीमाओं को पुनः परिभाषित करके उसे नये अर्थों में ग्रहण करती है, 4. अनेक बार वह युगों से चले आ रहे अपने कुछ आचरणों को पूर्णतः भी छोड़ देती है।

सभ्यता क़ी विकास यात्रा में जो नई सांस्कृतिक चुनौतियाँ आती हैं उनके समाधान के लिए परम्परा अपनी परिधि का विस्तार करती है। समय के परिवर्तन के साथ जब किसी व्यवहार की आंशिक आवश्यकता नहीं रहती है तब परम्परा उनकी सीमाओं में संकोच भी करती है। कई बार वह युगानुकूल प्रयोजनों के लिए अपनी सीमा को पहले से विद्यमान कोटियों को केवल पुनःपरिभाषित करके ही बढ़ा लेती है और किसी नयी समान्तर कोटि का आविष्कार नहीं करती। अनेक बार ऐसा भी होता है कि कालबाह्य हो चुके आचारों में कोई सार न देखकर तथा उनके चलते रहने से समाज की हानि देखकर अथवा लोक में उनके प्रति प्रतिकूल जनमत बनता देखकर वह उन्हें स्वयं ही त्याग देती है। इन चार प्रकार की प्रवृत्तियों का उपयोग करके परम्परा स्वयं को वर्तमान के अनुकूल बनाती है। दूसरे शब्दों में वह वर्तमान को अपना आधार देकर उसका पोषण करती है। परम्परा शब्द की व्युत्पत्ति इसी आधार पर दी गयी है कि वह अपने अनुभवों तथा आचार की श्रेणियों को प्रदान करके आधुनिकता का पोषण करती है – परं पिपर्ति इति परम्परा। वस्तुतः परम्परा शब्द ही "पर्पर" दो शब्दों से बना है, अर्थात् जो आगे आने वाले समय–समाज के साथ अनुकूलता से जुड़ी रहे, वह है परम्परा। वह परम्परा परम्परा नहीं हो सकती जो आगे आने वाले समय–समाज को कुछ दे न सके, अथवा उसका हित–साधन न कर सके। परम्परा अपने अतीत वाले हिस्से के द्वारा वर्तमान वाले हिस्से (जिसे आधुनिकता कह सकते हैं) के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लिए दृढ़ आधार प्रदान करती है। साथ ही नये विचारों के आलोक में अपने अतीत वाले हिस्से को सुपरीक्षित, परिमार्जित और पुनःपरिभाषित भी करती है। भारत की परम्परा ने उपर्युक्त प्रकार से अपने को संशोधित–संस्कारित करते हुए अपना विकास किया है इसके अनेक उदाहरण हम भारत की लम्बी ज्ञान परम्परा से दे सकते हैं।

2. भारतीय ज्ञान परम्परा के स्वतःनवीनीकरण की प्रविधियाँ

भारतीय ज्ञान परम्परा अपने मूल स्रोतों की सुरक्षा के लिए प्रसिद्ध है। यह परम्परा अपने स्रोतों को अतीत की वस्तु मानकर केवल संग्रहालयों की भाँति उन्हें सुरक्षित नहीं रखती बल्कि बार–बार उनका बदलते हुए समय और समाज के परिप्रेक्ष्य में पुनःपरामर्श भी करती है। बार–बार पलट कर परम्परा सिंहावलोकन करके स्वयं अपना परीक्षण भी करती है ताकि अपने को उपयोगी बनाया जा सके। इस क्रम में यदि उसे लगता है कि वर्तमान समय समाज के साथ उसकी संगति नहीं है तो वह यथासम्भव अपना विस्तार, संक्षेपण और पुनःपरिभाषण भी करती है। यहाँ तक कि असंगत और अलोकप्रिय आचारों का त्याग भी कर देती है। सामान्यतः, पारम्परिक आचारों के पूर्णतः त्याग की अपेक्षा भारतीय परम्परा अपने पुनःपरिभाषीकरण तथा विद्यमान परिधियों के विस्तार को ही अधिक स्पृहणीय मानती है। यह परम्परा अपने को अखण्ड मानती है तथा अपने ज्ञान को इब्राहीमी चिन्तन की तरह 1. अन्धकारयुग (जमाना ए जाहिलिय्यत) तथा 2. प्रकाश युग के खण्डों में विभाजित नहीं करती। यही कारण है कि यहाँ कोई भी वर्तमान अतीतद्रोही बन कर नहीं उभरता। अतीत वर्तमान का पोषण करता है और वर्तमान अतीत को आत्मसात किये उसे पुनःपरिभाषित भी करता है। इस प्रकार भारतीय ज्ञान परम्परा अपने स्रोतों की सुरक्षा के साथ उनके समुचित रूपान्तरण के लिए भी उल्लेखनीय है। किसी भी जीवन्त सभ्यता में उसकी गतिशीलता के कारण यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया होती है। जिस प्रकार नदी यदि गतिशील रहे तो उसमें स्थान–स्थान पर मिलने वाले अपशिष्ट भी विघटित होकर समाप्त हो जाते हैं और नदी शुद्ध होती रहती है उसी प्रकार गतिशील सभ्यता में भी अतीत की रूढ़ियाँ और आगन्तुक अपसंस्कृतियाँ दोनों विलीन होती रहती हैं। अतएव भारतीय परम्परा की पूर्वोक्त चार गतियों के स्वरूप पर थोड़ा विस्तार में विचार यहाँ समीचीन प्रतीत होता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

2.1. परम्परा का आत्मविस्तार

जब मानव सभ्यता विकसित होती है तो उसे नयी परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। अपने अन्तर्गत चले आ रहे प्रचलित आचार–व्यवहार को नयी परिस्थिति में अपर्याप्त पड़ता देख परम्परा अपनी परिधि को विस्तृत करती है। अनेक बार यह विस्तार शताब्दियों के चिन्तन के बाद उन आचारों के भौतिक स्वरूप से आगे जाकर उनके आध्यात्मिक तत्त्व की पहचान की ओर भी अग्रसर होता है। आत्मविस्तार के क्रम में परम्परा अपने पुराने आचार–व्यवहार को पूर्ववत् रखते हुए केवल उसे व्यापकता प्रदान करती है। प्राचीन वाङ्मय से ही हम इसके अनेक उदाहरण पाते हैं।

वेद के मन्त्रों की व्याख्याओं का एक लम्बा इतिहास है। हम जानते हैं कि एक ही मन्त्र के परम्परा ने अनेक प्रकार के अर्थ किये हैं। भिन्न भिन्न परिस्थितियों में एक ही मन्त्र आध्यात्मिक, आधिभौतिक (आधियाज्ञिक), आधिदैविक, ऐतिहासिक आदि अनेक अर्थों को निष्पन्न करता है।[10] इन अर्थों को समझने समझाने का भी इतिहास है। यास्क के निरुक्त से पता चलता है कि वेद के उपर्युक्त विशेष अर्थों को मानने वालों का पृथक् सम्प्रदाय हुआ करता था।[11] यास्क के व्याख्याकार दुर्गसिंह का कहना है कि समझने वाले के अभिप्राय से वेदों के अर्थ भी विविध होते जाते हैं। इन सन्दर्भों से पता चलता है कि अर्थों की यह विविधता परम्परा में खोजी गयी है तथा इनका क्रमिक विकास हुआ है।[12] स्वयं ऋग्वेद[13] तथा निरुक्त[14] में इस प्रकार के प्रखर मेधा सम्पन्न विद्वानों की 'ओहब्राह्मणाः' नाम से चर्चा की गयी है जो तर्क का आश्रय लेकर वेदार्थ का विचार करते थे। एक बात ध्यातव्य है कि बाद–बाद वाले अर्थों के विकसित होने पर पहले–पहले वाले अमान्य नहीं हो जाते। अपने विविध अर्थों के लिए प्रसिद्ध मन्त्रों में से केवल एक उदाहरण पर्याप्त होगा –

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश– ।।ऋग्वेद 4.58.3।।[15]

इस मन्त्र में किसी महान् देव का वर्णन है जो मरणधर्मा प्राणियों में आविष्ट हो गया है। विविध विद्वानों ने इस महान् देव को अलग अलग अर्थों में पहचान कर इस मन्त्र की व्याख्या की है। कुमारिल (तन्त्रवार्तिक 1।2।46) के अनुसार यह महान् देव सूर्य है। सायण ने इसे यज्ञरूपी अग्नि का वर्णन माना है। पतञ्जलि के अनुसार इस मन्त्र में शब्दरूपी ब्रह्म का वर्णन है (महाभाष्य, पस्पशाह्निक)। इस प्रकार वेद के मन्त्रों को अधिकाधिक लोगों के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लिए उपयोगी बनाने हेतु[16] उनके अर्थ की सीमाओं में विस्तार किया गया, तथा प्रायः सभी अर्थों को गौण मुख्य भाव से मान लिया गया। परम्परा स्वयं मुक्तकण्ठ से कहती है कि हमें वेद के अर्थ का ज्ञान इतिहास तथा पुराण इत्यादि के परिप्रेक्ष्य में ही करना चाहिए। इस प्रसंग में 'उपबृंहण' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ विस्तार अथवा विशदीकरण होता है।[17] वेद की विविध व्याख्या परम्परा आगे भी चलती रही। सायण, दयानन्द, अरविन्द, अनिर्वाण सातवळेकर, गोविन्द चन्द्र पाण्डेय इत्यादि के माध्यम से यह प्रक्रिया अर्वाचीन काल तक प्रवाहमान् है। परम्परा द्वारा यथासमय अपने आपको विस्तृत करके उसे उपयोग योग्य बनाने का यह सुन्दर उदाहरण है।

मन्त्र तथा संहिता काल के बाद ब्राह्मण ग्रन्थों का कर्मकाण्ड बहुल काल आया। उस समय बड़े बड़े यज्ञों की प्रधानता होने लगी। परवर्ती ब्राह्मण काल में ही और विशेषतः उसके बाद यज्ञों के भौतिक स्वरूप के साथ उसके आध्यात्मिक स्वरूप को भी समझा जाने लगा।[18] परम्परा में यह विस्तार बहुत ही मूल्यवान् था। सम्भवतः यह हर आयाम से विकसित होती हुई सभ्यता को दृष्टि में रखकर कर्मकाण्डों को अधिक व्यापक और स्वीकार्य बनाने का उपक्रम था। शतपथब्राह्मण (11.3.1) में विदेहराज जनक के साथ चर्चा में याज्ञवल्क्य ने एक महत्त्वपूर्ण बात उठाई है कि विविध भौतिक सामग्रियों से होने वाले बाह्य यज्ञ तब किस प्रकार होंगे अगर परिस्थितिवश उन भौतिक सामग्रियों का अभाव हो जाए? लम्बी चर्चा के अनन्तर उन्होंने निर्णय दिया है कि श्रद्धा ही पवित्र अग्नि है और सत्य ही घृत है। सृष्टि के आदि में भी जब कोई भौतिक वस्तु नहीं थी तब भी अग्निहोत्र श्रद्धा तथा सत्य के सहारे ही हुआ करता था। इस स्थिति में यदि संसार की हवन करने वाली सारी वस्तुएँ नष्ट हो जाएँ तो भी अग्निहोत्र का लोप नहीं हो सकेगा।[19] आध्यात्मिक दृष्टि के साथ इसमें एक उपयोगितावादी दृष्टिकोण भी है। यह बात इसी प्रकरण में आगे पता चलती है जब प्राचीन श्लोकों का उद्धरण देते हुए प्रश्न उठाते हैं कि नित्य अग्निहोत्र करने वाला व्यक्ति जब अपने घर को छोड़कर कहीं बाहर जाता है तो अग्नि के समीप नहीं रह पाने पर भी उसका व्रत खण्डित नहीं होता है, कैसे? इसके उत्तर में उनका कहना है कि प्राण ही अग्निहोत्र है। प्रवास अवस्था में भी प्राण में आहुति अर्पित करने के कारण अग्निहोत्री व्यक्ति का व्रत खण्डित नहीं होता। इसलिए प्राण ही अग्निहोत्र है।[20] शतपथब्राह्मण में ही अन्यत्र यज्ञ की वेदी के प्रसंग में याज्ञवल्क्य का कहना है कि व्रतधारी यजमान ही वास्तविक वेदी है।[21]

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने बहुत से आध्यात्मिक यज्ञों को यज्ञ के प्रचलित अर्थ के साथ जोड़ा है। वे हैं – द्रव्ययज्ञ, तपयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ तथा ज्ञानयज्ञ आदि। द्रव्यों से किये जाने वाले यज्ञों की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ को वे अधिक प्रशस्त मानते हैं।[22] अन्यत्र वे सभी प्रकार के यज्ञों में जपयज्ञ को अपना स्वरूप बताते हुए उसकी प्रशंसा करते हैं।[23] यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए है कि श्रीकृष्ण भौतिक यज्ञों को कहीं भी नकारते नहीं हैं[24] बल्कि यज्ञ के एक आध्यात्मिक स्वरूप को उसमें जोड़ते हैं, जो व्यष्टि तथा समष्टि दोनों के लिए अधिक हितकारी होने के कारण से भौतिक यज्ञों से श्रेष्ठ है। अभिनवगुप्त ने भी तन्त्रालोक के 29वें अध्याय में कुलयाग की चर्चा की है जो पारम्परिक यज्ञों के विकल्प रूप में उसकी परिधि को बढ़ाता हुआ प्रतीत होता है। इसी प्रकार शिवाद्वयवाद में यम नियम आदि अष्टांग योग के भी अपनी स्वतन्त्र व्याख्याएँ प्राप्त होती हैं।

भारतीय परम्परा के बहुत से गौरव ग्रन्थ अपने आप में परम्परा की परिधि के निरन्तर परिवर्धन के मूर्त उदाहरण हैं। ये ग्रन्थ निरन्तर विकसनशील हैं। महाभारत और रामायण इत्यादि आर्ष ग्रन्थों से लेकर पंचतन्त्र आदि लौकिक साहित्य के बहुत से ग्रन्थ निरन्तर विकासशील रहे हैं। चरकसंहिता का प्रतिसंस्कार प्रसिद्ध ही है। वस्तुतः भारत में ज्ञान एक स्थिर वस्तु न होकर हर युग में विकासमान् वास्तविकता है। हर युग का जनसमूह इसे अपने साथ जोड़कर देखता है और अपनी समझ और आवश्यकता के अनुसार वर्तमान में विकसित ज्ञान का कुछ न कुछ हिस्सा उसमें जोड़ता है। निरन्तर विकास शीलता इस परम्परा की जीवन्तता का लक्षण है।

भारतीय दर्शन की चर्चाएँ युगानुकूल अर्थ विस्तार की सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। ब्रह्मसूत्र पर लिखे गये अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि विविध भाष्य वस्तुतः भिन्न भिन्न देश तथा काल में जनसमूह की आवश्यकताओं का प्रतिनिधित्व करते हुए उनकी साधना पद्धति के प्रमाणीकरण का काम करती हैं। आचार्य शंकर का सीधा मुकाबला बौद्धों से था इसलिए उन्होंने बौद्ध दार्शनिकों के द्वारा विस्तारित तर्क के स्तर पर जाकर ऐसे ब्रह्मवाद की स्थापना की जो निर्विशेष था। जनसामान्य में ब्रह्म के सगुण रूप की उपासना करने वाला एक बड़ा जनसमूह इस व्याख्या से सहमत नहीं रहा। इसी कारण इसका एक प्रखर प्रतिपक्ष विशिष्टाद्वैत के रूप में उभर कर सामने आया। मध्यकाल की विषम अवसादपूर्ण परिस्थिति

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

में जनमानस को लोकरक्षक और लोकरञ्जक सगुण ईश्वर की विशेष आवश्यकता थी। ईश्वर के इस रूप की पूर्ति वेदान्त के विविध भक्ति सम्प्रदायों ने की और ब्रह्मसूत्र की व्याख्याओं द्वारा अपने मतों को प्रतिपादित किया। ध्यातव्य है कि जनमानस में इन सभी आचार्यों के प्रति समान श्रद्धा का भाव पाया जाता है। इन सम्प्रदायों ने एक दूसरे को स्थानापन्न नहीं किया बल्कि इन सम्प्रदायों के माध्यम से परम्परा को अनेक विकल्प प्राप्त हुए जिससे साधना–पद्धतियाँ, दृष्टिकोण और इनके साथ ही जीवन शैली समृद्ध हुई। इसी तरह अन्य दर्शनों ने भी व्याख्याओं के माध्यम से अपने शास्त्रों में जो सूत्र ग्रन्थ थे उनकी अपेक्षा अपने दर्शनों के आयाम विकसित किये। उन्होंने कई बार यह काम प्रतिपक्षियों का जवाब देने के लिए किया तो कई बार अपने सम्प्रदाय में हुए आन्तरिक विचार मन्थन से सम्भव किया। उदाहरण के लिए, वैशेषिक सूत्रों में मूलतः 'अभाव' नामक पदार्थ नहीं है लेकिन उसकी बाद की व्याख्याओं ने अभाव की आवश्यकता का अनुभव किया तथा उसे अपने शास्त्र में जोड़ा। परवर्ती काल में न्याय तथा वैशेषिक दर्शनों का समन्वय, रामानुज आदि के द्वारा पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा को अखण्ड शास्त्र मान लेना भी अपनी सीमाओं को दार्शनिकों आवश्यकताओं के अनुरूप विस्तृत करना ही था। श्रमण दर्शनों ने भी शताब्दियों के संवाद के कारण अपनी विचार पद्धति को विस्तार दिया तथा उन्हें कई बार परिमार्जित भी किया। उदाहरण के लिए, दिङ्नाग के द्वारा प्रवर्तित अपोहवाद बाद में शान्तरक्षित तथा ज्ञानश्रीमित्र तक आते आते विशद और समावेशी कर दिया गया।[25] उनके इस कार्य में कई शताब्दियों तक प्रतिपक्षियों द्वारा उठाये गये प्रश्न सहायक हुए।

कई बार परम्परा वर्तमान में अपने हित के लिए पीछे से चले आ रहे विरोधी मतों को समंजस करके प्रगतिशील निर्णय लेती है। उदाहरण के लिए, धर्मशास्त्र में अनेक विधियाँ ऐसी हैं जिसमें अनेक धर्मशास्त्रों में विवाद है। बाद के व्याख्याकारों ने प्रयत्न किया है कि इन सबकी व्याख्या सकारात्मकता की ओर जाये। उदाहरण के लिए, पुत्ररहित विधवा को पति का सम्पूर्ण भाग मिल सके इसके लिए विज्ञानेश्वर ने याज्ञवल्क्यस्मृति (2.133) की अपनी व्याख्या मिताक्षरा में पर्याप्त ऊहापोह किया है और अन्ततः निर्णय स्त्रियों के पक्ष में दिया है। यह प्रसंग भारतीय ज्ञान परम्परा का एक उज्ज्वल पृष्ठ है। मध्यकालीन देवलस्मृति में विदेशियों, विशेषकर मुसलमानों के आतंक के कारण बल पूर्वक धर्मभ्रष्ट कर दिये गये लोगों की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पुनःशुद्धि के लिए बहुत प्रगतिशील व्यवस्थाएँ दी गयी है। उदाहरण के लिए किसी म्लेच्छ जाति के पुरुष के द्वारा बलपूर्वक दूषित स्त्री सान्तपन नामक प्रायश्चित्त से शुद्ध हो सकती है (देवलस्मृति 47–49)।[26]

भारतीय ज्ञान परम्परा में कई महनीय ग्रन्थों को पंचम वेद, सप्तम वेदांग अथवा यह पञ्चमी विद्या कह देना भी आत्मविस्तार की एक प्रविधि ही है। वेद आस्तिक परम्परा के लिए परम प्रमाण समझे जाते हैं[27]। वेदों की प्रामाणिकता का लाभ अन्यान्य परवर्ती महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों को भी मिल जाये इसके लिए भारतीय परम्परा एक विशेष उपाय करती है। वह है उन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों पर वेदत्व को स्थानान्तरित अथवा अतिदिष्ट कर देना। यह अतिदेश उन ग्रन्थों को पंचम वेद की संज्ञा देकर किया जाता है। इस रीति से उन परवर्ती ग्रन्थों का महत्त्व ख्यापित होने के साथ ही साथ वेदों के साथ उनकी वैचारिक सहमति भी द्योतित हो जाती है। अनेक विधियाँ, रीति रिवाज इस प्रविधि से प्रामाणिक हो जाते हैं जिनका प्रमाणन अन्यथा सम्भव नहीं था। वेद के पश्चाद्वर्ती ग्रन्थों रामायण, पुराण, महाभारत यहाँ तक कि नाट्यशास्त्र तक को पाँचवाँ वेद कह देना इसी विस्तार की प्रवृत्ति का परिचायक हैं[28]। राजशेखर ने वेद के प्रसिद्ध छह अंगों के अतिरिक्त साहित्य को सातवाँ अंग माना है। उनके अनुसार वेदार्थ की सहायता करने के कारण साहित्यशास्त्र को भी वेदांग कहा जाना चाहिए।[29] कौटिल्य ने विद्याओं की संख्या चार बताई है। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में साहित्यविद्या को पाँचवीं विद्या कहा है। उनके अनुसार साहित्यविद्या सभी विद्याओं का सार रूप है। अन्य विद्याओं की तरह इनसे भी धर्म तथा अर्थ का ज्ञान होता है, इसलिए इसे भी विद्याओं में गिन लेना चाहिए।[30] इस प्रकार प्राचीन काल से प्रसिद्ध तथा रूढ़ कोटियों को (व्याकरणगत–) आकृति गण[31] की तरह खुला समझकर उसमें नये ग्रन्थों को शामिल करना परम्परा के आत्म विस्तार का रोचक उदाहरण है।

यह आत्मविस्तार अनेक बार खोए हुए हितकारी आचरणों को पुनः अपने साथ जोड़ लेने से भी होता है। उदाहरण के लिए 19वीं तथा 20वीं शताब्दी में हुए नवजागरण के विविध आन्दोलनों ने कन्याशिक्षा, वेदों में वर्णमात्र के अधिकार का ख्यापन, वर्णव्यवस्था का कर्मानुसार निर्धारण, विधवा विवाह, सतीप्रथा (अनुमरण) का विरोध, आदि अनेक आचरणों को समाज में पुनः व्यवहृत करने का प्रयत्न किया। ये व्यवहार, उनके अनुसार, मध्यकाल की विषम परिस्थितियों के कारण प्रयोग से बाह्य हो गये थे जिन्हें

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जनसामान्य के लाभ के लिए पुनःप्रतिष्ठित करना आवश्यक था। स्वामी दयानन्द द्वारा आर्यसमाज के माध्यम से प्रवर्तित शुद्धि आन्दोलन को भी परम्परा के सकारात्मक विस्तार के रूप में देखा जा सकता है। आर्यसमाज आदि आन्दोलनों से भारतीय ज्ञान परम्परा को बहुत लाभ मिला। भारतीय ज्ञान परम्परा को ब्राह्मणेतर वर्गों से भी बड़े बड़े विद्वान् अध्येता प्राप्त हुए जो अन्यथा सम्भवतः अशक्य था।

संक्षेप में, समस्त भारतीय ज्ञान परम्परा ने वेद आदि मूल ग्रन्थों से प्राप्त सामग्री को अन्यान्य ग्रन्थों में विस्तार दिया। टीकाओं, व्याख्याओं, तथा निरन्तर चलते ऊहापोह के माध्यम से इन्होंने अपना अभूतपूर्व विस्तार किया। विविध शाखाओं–प्रशाखाओं के रूप में विकसित यह परम्परा शताब्दियों तक मानव जाति के सोचने और व्यवहार करने की पद्धति के परिमार्जन में हेतु बनती रही है।[32]

2.2. परम्परा की परिधि का संक्षेपण

शताब्दियों तक परम्परा के अन्तर्गत चलते हुए व्यवहार कई बार रूढियों का रूप लेने लगते हैं। रूढ़ियाँ वर्तमान में उत्पादक न होने के कारण लोकोपयोगी नहीं रह जातीं और उनमें लोक की अरुचि होने लगती हैं। इसे दूर करने के लिए परम्परा अपनी परिधियों में संकोच करके उनका संक्षेपण करना शुरू कर देती है। संक्षेपण की प्रक्रिया में प्रयुक्त व्यहारों का पूर्णतः निषेध न करके उसके कुछ अंश का ही त्याग होता है। यह इसी प्रकार होता है जैसे कि नाखून काटते हुए व्यक्ति उसके सजीव अंश को बचाते हुए निर्जीव हिस्से को काट फेंकता है। भारत में यह कार्य धर्म सुधार की क्रान्तियों के माध्यम से विविध सम्प्रदायों के संस्थापकों द्वारा होता रहा है। इसके अतिरिक्त ज्ञान परम्परा को सुगम तथा सुव्यवस्थित करने के लिए भी परम्परा में संक्षेपण किया जाता रहा है। इन परिधियों के संक्षेपण के पीछे तर्क यह होता है कि कोई कार्य जब इतने विस्तार के बिना भी सम्भव है तो गुरुता अनावश्यक है। आचारों अथवा शास्त्र का अनावश्यक विस्तार व्यर्थ प्रक्रिया गौरव को जन्म देता है, इसलिए वह त्याज्य होता है। कई बार यह विचार प्रक्रिया की परिपक्वता के कारण भी सम्भव होता है। इन संक्षेपणों में से अधिकतर का तात्पर्य परम्परा का त्याग नहीं होता बल्कि उसके लाभों को न छोड़ते हुए, परिवर्तित समय, समाज में लोगों की सुविधा के लिए उसका लघूकरण अथवा सान्द्रीकरण होता है। परम्परा के पास पूर्ववर्ती व्यवहारों के संक्षेपण की अनेक प्रविधियाँ हैं, जैसे– 1. पहले से चले आ रहे आचारों की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

व्यर्थता को सिद्ध करना, 2. उन आचरणों को किसी अन्य व्यवहार में गतार्थ मान लेना, 3. लाघव, सरलता तथा सुव्यवस्था (विशेषतः शास्त्रों के प्रसंग में) आदि तर्क महत्त्वपूर्ण होते हैं। यहाँ परम्परा के अन्तर्गत संक्षेपण की प्रक्रिया के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं –

अ) **धार्मिक एवं नैतिक व्यवहारों का संक्षेपण :–** इसका उदाहरण हम भारत में हुई महान् धार्मिक क्रान्ति से दे सकते हैं। वेदों, उपनिषदों तथा धर्मसूत्रों के द्वारा प्रचालित नैतिक व्यवस्थाओं तथा साधना पद्धतियों को मानते हुए भी श्रमण संस्कृतियों ने इस परम्परा के अनेक आचरणों तथा मान्यताओं को अनिवार्य न मानकर उन्हें अस्वीकार कर दिया। उदाहरण के लिए बुद्ध ने अस्तित्व को मानते हुए भी उसको एक कूटस्थ, अपरिवर्तित तथा अविचल आत्मा के रूप में नहीं देखा। इसी प्रकार जैनों ने सभी पदार्थों को ऐकान्तिक रूप में नित्य अथवा अनित्य न मानकर अनैकान्तिक माना। धर्म तथा साधना के क्षेत्र में बौद्धों ने मूल तत्त्व को मानते हुए भी कुछ तत्त्वों का निराकरण कर उसका संक्षेपण किया। उदाहरण के लिए, बौद्ध विचारक बुद्ध के वचनों को प्रमाण मानते हुए भी वेद के प्रामाण्य का निषेध करते हैं। कर्म और पुनर्जन्म में आस्था रखते हुए भी कर्माध्यक्ष अथवा जगत्कर्ता के रूप में ईश्वर को नहीं मानते हैं।[33] शुद्धि–अशुद्धि का सम्प्रत्यय रखते हुए भी किसी तीर्थ के जल–विशेष से स्नान द्वारा शुद्धि को अमान्य करते हैं साथ ही तीर्थाटन आदि का भी निषेध करते हैं।[34] इसी तरह के विचार जैन ग्रन्थों में भी मिलते हैं।[35] इस परिघटना को हम उस देश काल में विद्यमान विचारक्रान्ति के अनुरूप परम्परा के संक्षेपण की प्रक्रिया ही कह सकते हैं। आस्तिक परम्परा में भी धर्मशास्त्रों तथा पुराणों ने विभिन्न कालों में लोगों के सामर्थ्य, रुचि तथा प्रवृत्ति को देखते हुए पहले से चले आ रहे व्यवहारों की परिधि को संक्षिप्त किया तथा कई बार दूसरे आचारों को प्राथमिकता दी।[36] इसी तरह भगवद्गीता में ज्ञान के अन्तर्गत सभी प्रकार के कर्मों को गतार्थ मान लिया गया है।[37] स्त्रियों के विषय में यज्ञोपवीत संस्कार, गुरुकुल गमन आदि को गृहकार्य तथा पति की सेवा द्वारा गतार्थ मान लिया गया है।[38] भक्तिकाल के ग्रन्थों में ऐसे बहुत से वचन मिल जाते हैं जो समस्त धार्मिक आचरणों का संक्षेपण और समाहार नाम–जप, संकीर्तन[39] अथवा गुरुभक्ति मात्र में कर देते हैं।[40] परवर्ती काल में आर्यसमाज आदि आन्दोलनों द्वारा संध्या, यज्ञ आदि संस्थाओं को मानते हुए भी उसके कुछ अंशों का संक्षेपण किया। इस आन्दोलन के महत्त्वपूर्ण सामाजिक सरोकार थे। स्मृतियों के जो वचन इन सरोकारों के अनुरूप न थे उनको इन्होंने प्रक्षिप्त मानते हुए

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्वीकार नहीं किया। नहीं मानने के पीछे इनके अपने तर्क और प्रविधियाँ थीं। इस आन्दोलन के नेताओं ने मनुस्मृति आदि ग्रन्थों का संक्षिप्त रूप ही मान्य किया जिसे वे विशुद्ध मनुस्मृति नाम देते हैं। वेद के रूप में परम्परा प्रायः मन्त्रसंहिता तथा ब्राह्मण दोनों को मान्यता देती है।[41] आर्य समाज ने ब्राह्मण ग्रन्थों के वेद होने पर प्रश्न उठाया।[42] यह प्रवृत्ति वेद की कोटि में विद्यमान ग्रन्थों की संख्या का संक्षेपण ही है। यह प्रवृत्ति परम्परा की पहली विस्तारवादी प्रवृत्ति के विपरीत है।

आ) **विशाल ग्रन्थों का संक्षेपण :—** परम्परा में बहुत से ग्रन्थों के बारे में प्रसिद्धि है कि पहले उनका कलेवर बहुत बड़ा हुआ करता था। लोगों की सुविधा के लिए ऋषियों ने उसे संक्षिप्त किया। पुराणों के बारे में जानकारी मिलती है कि वे पहले ब्रह्मलोक में थे और उनका परिमाण 100 करोड़ श्लोकों का था। व्यासदेव ने द्वापर में उनको बहुत संक्षिप्त करके 18 भागों में चार लाख श्लोकों का बना दिया।[43] नाट्यशास्त्र ग्रन्थ के बारे में भावप्रकाशन के लेखक शारदातनय की अवधारणा है कि यह मूलतः 12000 श्लोकों का था। विषय की सुगमता के लिए उसे केवल आधे अर्थात् 6000 श्लोकों में सीमित किया गया।[44] व्याकरण शास्त्र के विषय में भी कहा गया है कि पहले महेश्वर का व्याकरण समुद्र की तरह विशाल था, बृहस्पति का व्याकरण उस सागर से लिये गये केवल आधे घड़े जैसा था, और उसका सौंवा हिस्सा ऐन्द्र व्याकरण था। पाणिनि का व्याकरण तो मानो उसमें से कुश के अगले भाग से गिरे हुए बूँद की तरह संक्षिप्त है।[45] पाणिनि परवर्ती वैयाकरणों ने भी अपने व्याकरण की रचना में संक्षिप्तता का विशेष ध्यान दिया है। श्रीभाष्यकार रामानुजाचार्य का कहना है कि उनकी व्याख्या उस बोधायन की विस्तृत वृत्ति पर आधारित है जिसका संक्षेपण पुराने आचार्यों द्वारा किया गया था।[46] परम्परा अपने आप को विस्तार से संक्षेप की ओर ले जाती है, इसमें उसका लोकप्रिय तर्क है कि जैसे जैसे युग बीतते हैं वैसे वैसे मनुष्य की क्षमता कम होती जाती है।[47] यदि शास्त्र पहले की ही तरह विस्तृत रहे तो बदलते समय में लोगों के लिए उनका अध्ययन कठिन हो जायेगा। इसे ध्यान में रखकर परवर्ती विद्वान् उसे इस तरह संक्षिप्त कर देते हैं कि उसका सार बचा भी रहे और लोगों के लिए उसका अध्ययन कठिन न हो जाए।

इ) **शास्त्रों में लाघव एवं अन्तर्भाव :—** विभिन्न दर्शन अपने मन्तव्यों के सम्यक् विवरण के लिए विविध कोटियों की कल्पना करते हैं। ये कोटियाँ प्रमाण, प्रमेय आदि भेदों से अनेक प्रकार की होती हैं। देखा जाता है कि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दार्शनिक गण दूसरे विचारकों द्वारा उपस्थापित अतिरिक्त पदार्थों को अपनी कोटियों में अन्तर्भूत करने का प्रयास करते हैं। इसके पीछे लाघव ही उनका मुख्य तर्क होता है। लाघव के नाते शास्त्र की प्रक्रिया आसान होती है और ज्ञान की परम्परा सुव्यवस्थित होती है।[48] दर्शन द्वारा विविध कोटियों के अन्तर्भाव के प्रयास किये गये हैं। उदाहरण के लिए नैयायिक मीमांसासम्मत अर्थापत्ति प्रमाण को नहीं मानते। वे इसे अनुमान (केवल व्यतिरकी) में अन्तर्भूत कर देते हैं।[49] इसी प्रकार मीमांसकों द्वारा माने गये अभाव प्रमाण को भी वे प्रत्यक्ष प्रमाण में गतार्थ मान लेते हैं, क्योंकि उनके अनुसार वस्तु का अभाव भी उसी इन्द्रिय से गृहीत होता है जिससे वह वस्तु गृहीत होती है।[50] बौद्ध दार्शनिक सभी प्रकार के प्रमाणों को केवल दो (प्रत्यक्ष, अनुमान) के ही अन्तर्गत शामिल सिद्ध करते हैं।[51] अन्तर्भाव अथवा संक्षेपण की प्रक्रिया से अपने मत को अधिक सरल, लघु तथा सुव्यवस्थित सिद्ध करना दार्शनिकों का लोकप्रिय व्यवहार है। रघुनाथ शिरोमणि (1475–1550ई.) ने अपने ग्रन्थ पदार्थतत्त्वनिरूपणम् (पदार्थखण्डनम्) में न्याय द्वारा सम्मत बहुत से पदार्थों का अन्तर्भाव कर दिया है।[52] वैयाकरणों के यहाँ लाघव का महत्त्व बहुत अधिक है। यह भी व्याकरणिक ज्ञान को संक्षिप्त करके उसे सुव्यवस्थित करने की चेष्टा है। पाणिनि के सूत्रों को लघु करके देखना भी परवर्ती वैयाकरणों का एक महत्त्वपूर्ण बौद्धिक व्यायाम हो गया था, जिसके आधार पर व्याकरण विद्या में न्यास नामक परम्परा का विकास हुआ।[53] महाभाष्यकार पतञ्जलि पाणिनि के अनेक सूत्रों का खण्डन इस आधार पर करते हैं कि उनका अन्तर्भाव दूसरे सूत्रों में हो जायेगा।[54] इसी तरह वे सूत्रों के काम को सूत्रों द्वारा ही सिद्ध करके वार्तिकों की आवश्यकता का भी निराकरण अनेक स्थानों पर करते हैं।[55]

परम्परा विस्तार तथा संकोच इन दोनों युक्तियों का समयानुकूल वरण करती रहती है। कई बार वह इन दोनों प्रवृत्तियों का एक साथ उपयोग कर रही होती है। अनेक बार एक ही प्रसंग में वह कभी विस्तार को प्राप्त होती है तो कभी उसे ही संक्षिप्त कर देती है। पीछे हमने देखा कि कभी तो चारों मन्त्र संहिताओं के अतिरिक्त लौकिक ग्रन्थों को भी वेद का नाम देकर परम्परा को प्रामाणिक विस्तार देने की प्रवृत्ति है तो कभी समय तथा सुधार की आवश्यकता होने पर स्वयं ब्राह्मणों को भी वेद न मानने की संकोचात्मक प्रवृत्ति भी है। वस्तुतः, समय की आवश्यकता के अनुकूल इन दोनों प्रवृत्तियों का उपयोग करके परम्परा अपना संस्कार करती है और पुरानी प्रणाली को

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नया और समकालीन बनाये रखती है। चरक संहिता के प्रतिसंस्कर्ता चरक ने परम्परा के पुनर्नवीनीकरण की प्रक्रिया को इन सुन्दर शब्दों में बताया है—

विस्तारयति लेशोक्तं संक्षिपत्यतिविस्तरम्।
संस्कर्ता कुरुते तन्त्रं पुराणं च पुनर्नवम्।।

(चरकसंहिता, चिकित्सास्थान)

(शास्त्र का संस्कार करने वाला कभी तो सूत्र रूप में कही गयी चीजों को विस्तारित करता है, और कभी अत्यन्त विस्तृत अंशों को संक्षिप्त कर देता है। इस तरह वह सारी पुरानी शास्त्र प्रणाली को फिर से नया बना देता है।)

2.3. पारम्परिक कोटियों की पुनःपरिभाषा तथा उनका पुनर्व्यवस्थापन –

परम्परा लोक द्वारा अविच्छिन्न रूप से आचरित होते हुए विविध प्रकार के व्यवहारों को कहते हैं। इस तरह अपनी शक्ति लोक से ही प्राप्त करती है। इस कारण कोई व्यक्ति केवल अपनी वैयक्तिक रुचि अथवा अरुचि के आधार पर इसका खण्डन नहीं कर सकता।[56] लेकिन कई बार परम्पराएँ रूढियों में बदलने लगती हैं। तब उनका परिमार्जन आवश्यक हो जाता है। लोक में व्यवस्थापित परम्परा की कोटियों का परिमार्जन उसका पूर्णतः उच्छेद करके सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसा करने से लोक में विद्वेष उत्पन्न हो सकता है। इसलिए उनके परिमार्जन की मृदुतम विधि यह होती है कि उन कोटियों की फिर से परिभाषा की जाए तथा उन्हें अभीष्ट अर्थों के साथ जोड़ा जाये। बड़े बड़े सुधारकों तथा धार्मिक नेताओं ने यह कार्य इसी मृदु विधि का उपयोग करके किया। वे अपनी शक्ति को व्यवस्था के उच्छेद में न लगाकर उसको पुनःपरिभाषित करने में और पुनःव्यवस्थापित करने में लगाते हैं। यह भारतीय परम्परा के पुनःसंस्कृत करने की सर्वाधिक मान्य प्रविधि है।

अ) **पूर्वप्रचलित कोटियों का परिमार्जन :–** आधुनिक विमर्शों में बुद्ध को सामान्यतया ब्राह्मण–विरोधी बताया जाता है, लेकिन मूल ग्रन्थों को देखने से यह बात स्पष्ट होती है कि महावीर अथवा बुद्ध ने संस्था के रूप में ब्राह्मणों का विरोध नहीं किया। उन्होंने इस कोटि को पुनःपरिभाषित करते हुए उसके साथ स्पृहणीय सद्गुणों को जोड़ते हुए इसके साथ लगे जन्म की शर्त को हटाया।[57] धम्मपद के 26वें (ब्राह्मण) वर्ग की 38 गाथाओं में बुद्ध ने ब्राह्मण शब्द के साथ ऐसे सद्गुणों को जोड़ा है जो उनके अनुसार एक भिक्षु

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का भी आदर्श है। अनेक बार उन्होंने अपने भिक्षुओं को ब्राह्मण शब्द से सम्बोधित भी किया है।[58] इसमें उन्होंने कहा है — केवल ब्राह्मण कुल में जन्म लेने से, जटा बढ़ा लेने से कोई ब्राह्मण नहीं हो जाता। जो ध्यान करने वाला, रजोगुणरहित, स्थिर आसन वाला, कृतकृत्य, चित्तविकार से रहित है, जिसने पापों को नष्ट कर दिया है, क्षमा ही जिसका बल है, जो अक्रोधन, व्रतवान्, शीलवान्, सत्यभाषी, अनासक्त है उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।[59] अश्वघोष से सम्बद्ध किये जाने वाले प्रसिद्ध ग्रन्थ वज्रसूची में भी इसी आशय का विमर्श प्रस्तुत किया गया है। इसके अनुसार शास्त्र, संस्कार, जन्म, कुल अथवा वेद के सम्बन्ध से ब्राह्मण होना सम्भव नहीं है। ब्राह्मण होने के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति ममत्व, अहंकार, आसक्ति, परिग्रह तथा राग द्वेष से मुक्त हो।[60] इन ग्रन्थों से भी पहले भगवद्गीता में वर्ण को गुण तथा कर्म के आधार पर निर्धारित करने की चर्चा आयी है।[61] स्पष्ट है कि इन सभी विचारकों ने पहले से प्रचलित समाज में बद्धमूल ब्राह्मण नामक कोटि का विरोध न करके उस कोटि पर रूढ अपगामी मान्यताओं का परिमार्जन किया।

इसी तरह जैनों के मूलसूत्रों[62] में से एक उत्तराध्ययनसूत्र (अध्याय 25) में भी ब्राह्मण के लक्षण बताये हैं। इसके अनुसार जो कसौटी पर कसे हुए और अग्नि के समान स्वच्छ किये हुए सोने की तरह विशुद्ध है, जो राग, द्वेष और भय से रहित है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।[63] जो क्रोध, हास्य, लोभ या भय से असत्य नहीं बोलता उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।[64] जल में पैदा हुआ कमल जिस प्रकार जल से लिप्त नहीं होता, इसी प्रकार जो कामनाओं से अलिप्त है उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।[65] केवल ओंकार का जप करने से ब्राह्मण नहीं हुआ जाता।[66] वेदों के विषय में भी इसी तरह का दृष्टिकोण मिलता है। हरिभद्रसूरि (छठी शताब्दी) तो बौद्धों के विरुद्ध आत्मा की सत्ता मानने के लिए वेदों को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करते हैं।[67] जिनसेनाचार्य द्वारा रचित जिनसहस्रनामस्तोत्र में तीर्थंकर के 1000 नामों की गणना में जो 3 नाम वेद से सम्बद्ध हैं वे हैं वेदाङ्ग (=वेद के सहायक), वेदविद्वेद्य (=वेद के जानकारों के द्वारा ज्ञेय) तथा वेदवेद्य (=जिन्हें वेद के द्वारा जाना जा सकता है)।[68]

ब्राह्मण की ही तरह 'यज्ञ' नामक कोटि की भी पुनर्व्याख्या करते हुए उसे उसके द्रव्यमय स्वरूप से हटाकर आध्यात्मिक स्वरूप में सीमित किया गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में ही कहा है कि "जो पाँच संवरों से

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पूर्णतया संवृत होते हैं, इस मनुष्य जन्म में जीवन की आकांक्षा नहीं करते, जो शरीर की आसक्ति का परित्याग करते हैं, जो पवित्र तथा देहभाव से रहित हैं, वे ही श्रेष्ठ यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं।"[69] इसी तरह आगे उल्लेख है – "तपश्चर्या ही जिसकी ज्योति है, आत्मा ही जिसका अग्निकुण्ड है, योग ही जिसकी स्रुवा है, शरीर ही जिसका कण्डा है, कर्म ही जिसका ईंधन हैं, संयम जिसका शान्तिपाठ है, ऐसे ऋषि प्रशंसित यज्ञ को मैं करता हूँ।[70]" दीघनिकाय (1.5) में कथा है कि भगवान् बुद्ध भिक्षुसंघ के साथ यज्ञ मण्डप में गये थे, जहाँ उन्होंने कूटदन्त नामक ब्राह्मण को बहुत ही कम सामग्री में 5 महान् यज्ञों का प्रतिपादन किया – 1. दानयज्ञ, 2. त्रिशरणयज्ञ, 3. शीलयज्ञ, 4. समाधियज्ञ। उपासकाध्ययन में सोमदेव का कहना है कि सभी प्राणियों के साथ मैत्री ही यज्ञ है और इस यज्ञ में जो संलग्न है उसे ही दीक्षित कहा जा सकता है, जिस किसी को नहीं।[71] इसी तरह उन्होंने श्रोत्रिय, होता, अध्वर्यु, वेद, त्रयी, ब्राह्मण तथा ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ आदि कोटियों को जैन अनुशासन के अनुकूल नये सिरे से पुनःपरिभाषित किया है। (दे. उपासकाध्ययन 44.871–886)।

चार जलती हुई अग्नियों के बीच बैठकर तपते हुए सूर्य पर ध्यान लगाना एक कठिन तप रहा है जिसे पञ्चाग्नि साधना कहा जाता है।[72] बाद में इसके आध्यात्मिक अर्थ लेने के कई उदाहरण मिलते हैं–गरुड़पुराण का कथन है कि जो अपने उदर में गार्हपत्य अग्नि को, मध्यदेश में दाक्षिणात्य अग्नि को, मुख में आहवनीय अग्नि को, सत्य तथा पर्व को सिर में स्थित समझता है, वही आहिताग्नि है।[73] सोमदेव ने अपने यशस्तिलक में कहा है– "जो काम, क्रोध, मद, माया तथा लोभ की 5 अग्नियों को नियन्त्रित कर लेता है, वही पंचाग्निसाधक है।"[74] इसी तरह, पंचमकार की साधना का उदाहरण दिया जा सकता है जो वाममार्गियों तथा तन्त्रयानी बौद्धों में लोकप्रिय थी।[75] इन परम्पराओं के क्षीण अथवा गर्हित हो जाने के बाद परवर्ती तन्त्र ग्रन्थों में तथा नाथ पन्थ जैसे निवृत्तिमार्गी हठयोगियों द्वारा इन्हीं पंचमकारों के यौगिक तथा आध्यात्मिक अर्थ किये गये। उनके अनुसार, मद्य का अर्थ शराब न होकर सहस्रार से स्रवित होने वाला मधु है[76], मांस पशुओं का गोश्त न होकर पाप और पुण्य दोनों का विनाश अथवा मौन की साधना है[77], मत्स्य भक्षण मछली खाना नहीं बल्कि श्वास प्रश्वास को रोकना है[78], आशा और तृष्णा ही महामुद्राएँ हैं, इनका भक्षण करना मुद्रा का सेवन करना है[79] तथा शिव एवं शक्ति की समरसता से उत्पन्न आह्लाद ही मैथुन है।[80] गोरखनाथ

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

से सम्बद्ध माने जाने वाले "गोरक्षशतक" नामक ग्रन्थ के अन्त में भी इनके यौगिक आशय को प्रकट किया गया है।[81] उपासना के इन 5 उपकरणों की वर्गीकरण अधिकारी के भेद के अनुसार भी किया गया है।[82]

आ) पूर्ववर्ती व्यक्तित्वों का आत्मसात्करण :– परम्परा के विस्तृत प्रवाह में बहुत सी व्यवस्थाएँ बनती और लुप्त होती रहती हैं। लुप्त होती व्यवस्थाओं से परम्परा उपयोगी सामग्री का ग्रहण करती ही है। अनुकूल सामग्री का ग्रहण करते हुए वह उन्हें अपनी कोटियों में सम्मिलित करती है। अनेक बार वह भिन्न सम्प्रदाय के व्यक्तियों को भी परम्परा के अन्तर्गत शामिल कर लेती है। इसके लिए पहले वह उन्हें अपने अनुसार परिभाषित करती है। बाद में आने वाले सम्प्रदाय दूसरों को अपने अनुसार कर सकें और अपने आप को स्थापित सम्प्रदायों के अनुरूप कर सकें, इसके लिए यह एक प्रमुख प्रविधि है।[83] इसके कुछ रोचक उदाहरणों ध्यान दिया जाना चाहिए।

श्रमण आन्दोलनों के चलते बुद्ध एक महनीय व्यक्तित्व के रूप में स्थापित हो चुके थे। बाद में जब वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ तो परम्परा ने बौद्धों की प्रणालियों का विरोध करते हुए भी बुद्ध को अपने उपास्य विष्णु के नवें अवतार के रूप में परिभाषित किया। अब समस्या यह थी कि बुद्ध ने अनेक बातें वेद के विरोध में भी कहीं। इसका सामाधन यह कह कर किया गया कि उन्होंने इस प्रकार की बातें अधार्मिकों, म्लेच्छों को मोहित करने के लिए की थीं।[84] इसी प्रकार जैन पुराकथाओं ने राम तथा कृष्ण के भी जैन संस्करण प्रस्तुत किये। उनके अनुसार निरन्तर गतिशील कालचक्र की प्रत्येक उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी में 63 महापुरुष अथवा शलाकापुरुष होते हैं। इनमें 24 तीर्थंकर (संघसंचालक), 12 चक्रवर्ती, नौ बलदेव, नौ वासुदेव (नारायण) तथा नौ प्रतिवासुदेव (प्रतिनारायण) होते हैं।[85] वैदिक तथा पौराणिक सरस्वती देवी का जैनीकरण इसी प्रकार का रोचक उदाहरण है। इन्द्र–इन्द्राणी आदि सहित सारा प्राचीन देवशास्त्र श्रमण परम्परा के ग्रन्थों में भी श्रमण संस्करणों के साथ विद्यमान है।

इ) सूत्रों के पुनर्व्याख्यान की शास्त्रीय प्रविधियाँ :– संस्कृत की ज्ञान परम्परा भी पहले से विद्यमान अपने शास्त्रों की व्याख्या परिवर्तित समय और समाज के अनुकूल कर पाने के लिए अनेक शास्त्रीय प्रविधियों का उपयोग करती है। इनमें से कुछ के उदाहरण ब्रह्मसूत्रों के परिप्रेक्ष्य में मिलते हैं। ब्रह्मसूत्रों का भारतीय चिन्तन प्रणाली तथा सामाजिक क्रान्तियों पर बड़ा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रभाव है। ब्रह्मसूत्रों के व्याख्याताओं द्वारा अपनायी गयी कुछ प्रविधियाँ इस प्रकार हैं– 1. कई शास्त्रों को एक मान लेना (शास्त्रैकत्व), 2.शास्त्र के खण्डों (अधिकरणों[86]) की पुनर्व्यवस्था, 3. अनुवृत्ति, योगविभाग आदि। परवर्ती काल में न्याय तथा वैशेषिक दर्शनों का समन्वय, इसी प्रकार रामानुज द्वारा पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा को अखण्डशास्त्र मान लेना भी अपनी सीमाओं को दार्शनिक आवश्यकताओं के अनुरूप विस्तृत करना ही था।[87] ध्यातव्य है कि वेदान्त सूत्रों के रचयिता बादरायण व्यास ने स्वयं उन्हें अधिकरणों (विषयानुसार सूत्र समूहों) में नहीं बाँटा है। अधिकरण विभाजन व्याख्याता आचार्यों ने अपने अपने मन्तव्यों के आधार पर कर लिया है। इससे सूत्र तो वही रहे लेकिन उनका प्रतिपाद्य बदल गया है। "एक भाष्यकार यदि किसी अधिकरण में पाँच सूत्र मानते हैं तो दूसरे उस अधिकरण की सीमा में संकोच अथवा विस्तार कर देते हैं और फलस्वरूप जो सूत्र एक भाष्यकार के अनुसार किसी एक विषय का प्रतिपादन करते हैं, वही दूसरों के अनुसार एक भिन्न ही विषय के प्रतिपादक हो जाते हैं और कभी कभी स्थिति यह हो जाती है कि पूर्वपक्ष–सूत्र सिद्धान्त – सूत्रों और सिद्धान्त–सूत्र पूर्वपक्ष–सूत्रों के रूप में सरलता से परिवर्तित हो जाते हैं।"[88] अधिकरण भेद के अतिरिक्त अभीष्ट अर्थ लेने के लिए और भी कई तकनीकें अपनायी गयी हैं।[89] कई बार आचार्यों ने दो सूत्रों को मिलाकर एक मान लिया है (जैसे, वल्लभ 1.1.2 तथा 1.1.3 को एक ही सूत्र मानते हैं)[90], कई बार आचार्य एक सूत्र को दो मान लेते हैं (2.4.13 में निम्बार्क, वल्लभ, बलदेव "प्राणवता शब्दा" इतने अंश को अधिक सूत्र मानते हैं।)[91] कई बार कुछ सूत्रों को अस्वीकार किया है (जैसे, मध्व, वल्लभ, बलदेव ने सूत्र 1.1.9 को नहीं माना है)[92], कहीं कहीं पाठभेद स्वीकार किया है (जैसे, 1.1.16 में वल्लभ ने 'गीयते' की जगह 'गम्यते' पाठ माना है)[93], कहीं सूत्रों का स्थान परिवर्तित माना है[94], कहीं कुछ सूत्रों को अधिक माना है[95], कहीं सूत्रों में विच्छेद अलग तरह से किया है (जैसे, 2.4.26 'गुणाद्वाऽऽलोकवत्' को वल्लभ 'लोकवत्' पढ़ते हैं)। इन सारी प्रविधियों के उपयोग से आचार्यों के प्रतिपाद्य भी भिन्न हो गये हैं, जैसा कि उनका अभीष्ट था।[96] इन परिवर्तनों और व्याख्याभेदों का कारण है आचार्यों द्वारा अपने सम्प्रदायों की सुरक्षा का प्रयत्न। श्रुतियों को शब्दशः मानते हुए भी आचार्यों ने उसके अर्थों को बिलकुल अलग ले लिया है, और व्याकरणशास्त्र ने अपनी प्रविधियों द्वारा उनकी सर्वत्र सहायता की है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पाणिनीय व्याकरण प्रणाली में भी कुछ ऐसा ही हुआ। पाणिनि तथा पतञ्जलि के मध्यगत कालखण्ड में भाषा में जो भी विकास हुआ उसका अन्वाख्यान भी पाणिनीय परम्परा को ही करना था ताकि वह अद्यतन बना रहे। पाणिनीय व्याकरण इतना संक्षिप्त, सुगठित, संश्लिष्ट तथा उपयोगी बन पड़ा था[97] कि शब्दान्वाख्यान के लिए किसी अन्य प्रणाली की कल्पना व्याख्याकारों को असह्य लगती थी[98]। इसी कारण वैयाकरण निकाय में एक प्रवाद चल पड़ा– 'सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वं यद्वृत्तौ यच्च वार्तिके (अर्थात्, व्याख्याओं अथवा वार्तिकों के द्वारा जो कुछ भी जोड़ा गया है, वह सब कुछ पहले से ही सूत्रों में विद्यमान है)। अब हुआ यह कि सूत्र तो उतने ही रह गये थे जबकि भाषा में प्रयोग बदलते जा रहे थे। इस परिस्थिति को सन्तुलित करने के लिए व्याख्याकारों को सूत्रों का दायरा अनिवार्यतः बढ़ाना पड़ा। इसके लिए उन्होंने पाणिनीय शास्त्र में अनेक प्रविधियाँ जोड़ीं। कई जगह उन्होंने सूत्रों को दो भागों में तोड़ दिया, जिसे योगविभाग कहते हैं।[99] कहीं वे पाणिनि के सूत्रों से अप्रत्यक्ष रीति से अन्य तात्पर्यों का ग्रहण करते हैं, जिसे ज्ञापक कहा जाता है।[100] इसके अतिरिक्त तन्त्र[101], अनुवृत्ति[102], अपकृष्टि इत्यादि अनेक प्रविधियाँ सूत्र के दायरे को बढ़ाने के लिए स्वीकृत की गयी हैं। इसका फल यह है कि अनेक ऐसे शब्द भी बन गये जो सूत्र की पारम्परिक व्याख्या से सिद्ध नहीं हो सकते हैं।

ई) परम्परा की पुनःपरिभाषा में व्युत्पत्ति तथा व्याकरणशास्त्र का आश्रय :– परम्परा की पुनर्व्याख्या तथा पुनःपरिभाषा करने में व्युत्पत्ति शास्त्र प्रमुख प्रविधि के रूप में सहायक है। व्याकरण तथा व्युत्पत्ति भारतीय ज्ञान परम्परा के स्वभाव में निहित विद्या है। व्याकरणगत व्युत्पत्तियों को इस तरह का महत्त्व तथा सम्मान विश्व की किसी भी अन्य संस्कृति में दुर्लभ है। भारत में व्याकरण ज्ञान पर विशेषज्ञों का एकाधिकार नहीं था। इसका ज्ञान हर शिक्षित व्यक्ति के लिए सामान्य आधारभूत विरासत की तरह था[103]। माना जाता है कि यदि कोई व्यक्ति अथवा संस्था अपने नाम के अर्थ के अनुरूप काम नहीं कर रही हैं तो वह निश्चित रूप से अपने कर्तव्य से विचलित हो रही है। क्योंकि सामाजिक संस्थाओं के नाम प्रायः उनके सामाजिक प्रकार्यों के आधार पर विकसित हुए होते हैं।[104] इसलिए परम्परा रूढ़ होते व्यवहारों को व्युत्पत्ति का आइना दिखाकर ठीक रास्ते पर लाने का प्रयास करती है। व्युत्पत्तियों द्वारा कर्मकाण्डों का आन्तरिक अर्थ बताने की शैली के लिए ब्राह्मण ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं।[105] अनेक परवर्ती आचार्यों ने सामान्य उपयोग के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अतिरिक्त व्याकरण को अपनी विचार प्रणाली की बारीकियों को समझाने में भी उपयोगी पाया है। प्राचीन काल से ही व्याख्याकार कई बार विषय की संगति लगाने के लिए, अपने विशेष मत के समर्थन के लिए तथा परम्परा की युगानुरूप व्याख्या करने के लिए व्युत्पत्तियों तथा व्याकरणशास्त्रीय कोटियों का आश्रय लेते रहे हैं। कुछ रोचक उदाहरण द्रष्टव्य हैं।

देखा गया है कि जैन विद्वान् अपने ग्रन्थों में लोकप्रसिद्ध पूर्वप्रचलित 'ऋषि' आदि महनीय कोटियों का निषेध नहीं करते हैं बल्कि केवल उनकी व्युत्पत्तियों को बदल कर उनका अर्थ अपने सम्प्रदाय के अनुकूल कर लेते हैं। प्रसिद्ध है कि 'ऋषि' शब्द वैदिक परम्परा में आध्यात्मिक महापुरुषों के लिए प्रयुक्त है जो वेद के मन्त्रों का दर्शन कर सकते थे (ऋषिर्दशनात्–निरुक्त)। सोमदेव कृत यशस्तिलक ग्रन्थ में 'ऋषि' शब्द को √रिष (=रोकना) धातु से व्युत्पन्न दिखाकर इसका अर्थ जैन यति कर दिया है– "क्लेशसमूह को रोकने के कारण विद्वान् लोग मुनि को ही 'ऋषि' कहते हैं"।[106] 'अनूचान' शब्द वैदिक ग्रन्थों में उसे कहा गया है जो छहों अंगों सहित वेदों को जानता है।[107] सोमदेव ने वहीं कहा है जिसका चित्त ज्ञान, व्रत, ध्यान, संयम, नियम तथा यम के पालन में उच्च रहता है वह अनूचान है, जो वस्तुतः जैन मुनि है। आदिनाथ जैनों के प्रथम तीर्थंकर माने जाते हैं। भक्तामरस्तोत्र में मानतुंग आचार्य ने व्युत्पत्ति की कुशलता का प्रयोग करके उन्हें ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव घोषित किया है। उनके अनुसार आदिनाथ शंकर हैं क्योंकि सम्पूर्ण विश्व का कल्याण (शम्+कर) करने वाले हैं। वे ब्रह्मा (विधाता) हैं क्योंकि कल्याणमार्ग को प्रवृत्त (विधान–वि+√धा) करने वाले हैं। वे ही बुद्ध हैं क्योंकि उनको समस्त वस्तुओं का बोध है। इस तरह सर्वदेवमय होने के कारण वे ही विष्णु भी हैं।[108] स्वामी दयानन्द सरस्वती आधुनिक भारत में पुनर्जागरण के पुरोधा रहे हैं। उन्होंने अनेक प्रचलित मान्यताओं, विशेषतः ईश्वर की साकारता तथा मूर्तिपूजा का खण्डन किया है। परम्परा में ईश्वर के सगुण नामों के रूप में प्रचलित शब्दों का उन्होंने सत्यार्थप्रकाश के पहले समुल्लास में अपनी व्युत्पत्ति के कौशल से निर्गुण परक अर्थ किया है। परम्परा में ईश्वर के जो नाम सगुण रूपों या पार्षदों के अर्थ में रूढ हो गये थे उन सबकी व्युत्पत्ति इस तरह दी कि वे उनका अर्थ एक निर्गुण निराकार ब्रह्म हो जाये। उन्होंने ईश्वर के 100 नामों की निर्गुण ब्रह्म परक व्याख्या की है। इस तरह के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं – गणेश या गणपति की व्युत्पत्ति उन्होंने की है कि "जो प्रकृत्यादि जड़

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

और सब प्रख्यात जीवों का स्वामी वा पालनहारा है इससे उस ईश्वर का नाम 'गणेश' वा 'गणपति' है"।[109] इसी तरह अन्य नामों की व्युत्पत्ति है– जो सब जगत् के बनाने में समर्थ है वह ईश्वर ही शक्ति है।[110] जो चराचर जगत् को लक्षित करता है–देखता है वह ईश्वर ही लक्ष्मी है।[111] जिसको शब्द अर्थ सम्बन्ध प्रयोग का ज्ञान हो वह ईश्वर ही सरस्वती है।[112] कल्याण करने के कारण ईश्वर ही शिव है। सभी विद्वानों से भी अधिक विद्वान् होने के कारण वह ईश्वर ही महादेव है।[113] स्वयं उत्पन्न होने के कारण वही स्वयंभू ब्रह्मा भी है।[114]

जैन धर्म यज्ञ के साथ पशु–हिंसा का भी विरोध करता है। इसके साथ ही यह ध्यातव्य है कि जैनों ने यज्ञ शब्द पर आपत्ति नहीं की है। उन्होंने तो इस शब्द का यत्र–तत्र प्रयोग भी किया है। जैन शास्त्रों में यज्ञ शब्द दान देना तथा देव और ऋषियों की पूजा करना आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है। यज्ञ को अपने शास्त्रानुकूल अर्थ में समर्थित करने के लिए तथा पशुहिंसा में यज्ञ के तात्पर्य के विरोध के लिए जैन विचारक व्याकरण का सहारा लेते हैं। आचार्य गुणभद्र उत्तरपुराण में कहते हैं कि यदि यज्ञ शब्द का अर्थ हिंसा मानें तो फिर धातुपाठ में इस धातु का अर्थ बताते हुए यज् धातु का अर्थ हिंसा क्यों नहीं बताया गया है–

हिंसायामिति धात्वर्थपाठे किं न विधीयते।
न हिंसा यज्ञशब्दार्थो यदि प्राणिवधात्मकम्।। उत्तरपुराण 67.199

ध्यातव्य है कि धातुपाठ में स्थित धातुसूत्र के अनुसार यज देवपूजा संगतिकरणदानेषु (धा.पा. 1.30) यह धातु 3 अर्थों में विहित है जिसमें हिंसा अर्थ कहीं भी नहीं है। अतः हिंसा यज्ञ का वाच्य नहीं हो सकता। याज्ञवल्क्यस्मृति पर मिताक्षरा नामक प्रसिद्ध व्याख्या के रचयिता विज्ञानेश्वर (11वीं सदी) ने दायभाग के महत्त्वपूर्ण अंश पर टीका लिखते हुए धर्मशास्त्रीय समस्या का व्याकरण शास्त्र के आधार पर अपूर्व निर्णय दिया है। अपुत्र व्यक्ति के मर जाने पर उसके रिक्थ के भागी कौन हों। पत्नी तथा पुत्री के बाद याज्ञवल्क्य ने उस व्यक्ति के माता और पिता को उसके धन का भागी बताया है[115]। परन्तु मूल में पितरौ शब्द दिया गया है, जिससे क्रम का पता नहीं चलता कि दोनों में से पहला रिक्थभागी कौन हो। विज्ञानेश्वर ने इस समस्या को सुलझाने के लिए व्याकरण का आश्रय लिया है। उनके अनुसार चूँकि "पितरौ" के विग्रहवाक्य "मातापितरौ" में माता शब्द का पूर्वनिपात होता है, इस कारण माता को ही दायहरण के क्रम में पहले रखना

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चाहिए।[116] अनेक स्मृतिकारों ने शब्दतः माता को पिता के बाद रिक्थ का अधिकारी माना है[117], लेकिन विज्ञानेश्वर ने व्याकरणिक विश्लेषण का प्रयोग करके अपुत्र व्यक्ति के पिता की अपेक्षा माता को सम्पत्ति का पहला अधिकार दिलाया है। विज्ञानेश्वर इसी तर्क को आगे निःसन्तान स्त्री के धन के दायादों की चर्चा में याज्ञवल्क्यस्मृति गत मूल (2.145[118]) श्लोक के 'पितृगामि' शब्द की व्याख्या करते हुए दोहराते हैं।

2.4. प्रचलित आचारों का वर्जन

भारतीय ज्ञान परम्परा में धर्म का महत्त्व सर्वोपरि है। लेकिन यह तत्त्व भी नितान्त अपरिवर्तनीय नहीं है। भारतीयों ने धर्म के दो रूपों को हमेशा से पहचाना था तथा उनके मध्य भेद किया था – सार्वकालिक तथा कालसापेक्ष। धर्म का पहला सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक स्वरूप किसी भी देश या काल में परिवर्तित नहीं होता है, इसलिए हमेशा आचरणीय होता है। मनु ने इसे धर्म का नियामक लक्षण कहा है।[119] ये दस हैं–धैर्य, क्षमा, दम, अचौर्य, शुद्धता, इन्द्रियनिग्रह, धी (धारणाशक्ति), विद्या, सत्य तथा क्रोध न करना। पतञ्जलि ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह इन पाँच यमों को सार्वभौम महाव्रत कहते हुए इनको सभी जाति, देश, काल तथा समय में आचरण योग्य माना है।[120] बुद्ध (पंचशील) तथा महावीर (पंचमहाव्रत) ने तथा विविध धार्मिक ग्रन्थों में लगभग इन्हीं सदाचारों को दोहराया है। इन आचारों को कभी भी छोड़ा नहीं जा सकता क्योंकि ये सभी आचरण धर्म के घटक तत्त्व हैं। इनमें से किसी के भी छोड़ने से वैयक्तिक तथा सामाजिक हानि अवश्यंभावी है।

धर्म का दूसरा स्वरूप कालसापेक्ष है। किसी काल विशेष में इनका आचरण किया जाता है जबकि अन्य काल में इसका पालन आवश्यक नहीं होता है। स्वयं शास्त्रकारों ने कहा है कि हर युग में धर्म का स्वरूप बदलता जाता है। इसलिए जो विधियाँ पहले की जाती थीं वे बाद के युगों में नहीं की जातीं।[121] इसका कारण उन्होंने उस युग विशेष की प्रकृति का बदलना बताया है (मनु. 1.83–84)। धर्म का कालानुगुण परिवर्तमान रूप प्रायः खान–पान, रहन–सहन या अन्य व्यवहारों से सम्बन्धित होता है। किसी काल विशेष में जब उसकी आवश्यकता होती है तब लोक उनका आचरण करता है। बाद में किसी कारणविशेष से परिवर्ततित समय और समाज के परिप्रेक्ष्य में लोक उन्हें व्यर्थ अथवा अनुत्पादक मानकर उनसे दूरी बनाना चाहता है। ऐसी स्थिति में वे धर्म की परिधि से बाहर चले जाते हैं। लोग

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उनका आचरण छोड़ देते हैं। मनुस्मृति (4.1763–4) का कहना है कि ऐसे धर्म को छोड़ देना चाहिये जिससे बाद में हानि की गुंजाइश हो और जो जनसाधारण में निन्दित हो।[122] धर्म के पाँच स्रोतों[123] में से एक महत्त्वपूर्ण स्रोत है–लोक में सत्पुरुषों का आचार। हमारे यहाँ पुराने समय से चले आ रहे धर्माचरणों का निरन्तर परीक्षण होता है। जब कोई विधि कालबाह्य हो जाने के कारण अनुत्पादक (असुखोदर्क) हो जाती है तो उसका नितान्त त्याग भी करने का विधान है। "ऐसा नहीं है कि भारतीय संस्कृति के अभिव्यक्ति–पक्ष में विकार न उत्पन्न हुए हों, जैसा कि किसी भी संस्कृति के जीवन–प्रवाह में होता ही रहता है। परन्तु भारतीयों ने ऐसे विकारों को 'स्वरूप' समझने की कभी भूल नहीं की है। भारतीय संस्कृति में ऐसे विकारों से उबरने की आत्मचेतना सदैव दिखाई पड़ती है।[124]" बाद में धर्मशास्त्र भी ऐसे विधियों को 'कलिवर्ज्य' की श्रेणी में रख देता है। श्रुति तथा स्मृति में अनुमत इन विधियों को भी विभिन्न कालों में सत्पुरुष उन्हें व्यवहार से बाहर कर देते हैं, यदि उन्हें यह लगता था कि ये विधियाँ अगर पूर्ववत् व्यवहार में बनी रहीं तो उससे पाप और अनाचार बढ़ेगा।[125] पराशरस्मृति का कहना है भिन्न–भिन्न युगों के धर्म कालानुरूप बदलते रहते हैं। इन बदले हुए धर्मों पर आक्षेप नहीं करना चाहिए।[126] युग तथा देशाचार के अनुकूल इन्हें ही ग्रहण करना चाहिए।[127] यह भी ध्यान रखना चाहिए कि ये विधियाँ पुराने धर्मशास्त्रों में नहीं मिलतीं। इनकी सबसे पहली सूची स्मृत्यर्थसार और स्मृतिचन्द्रिका में मिलती है जो क्रमशः 12वीं और 13वीं सदी के ग्रन्थ हैं। इसका तात्पर्य यह है कि विदेशी आधिपत्य के चलते समाज की दशा में जो परिवर्तन आ गया था उसके मद्दे नजर धर्मशास्त्रों को कालानुकूल किया जा रहा था। धर्मशास्त्र के इतिहास से यह स्पष्ट होता है कि 'कलिवर्ज्यों' की संख्या पहले कम थी और बाद में उनकी संख्या बढ़ने लगी। यहाँ तक की वर्जित विधियाँ 50 की संख्या में हो गयीं (काणे 1946,930)। धर्मशास्त्र के प्रख्यात वेत्ता पी.वी. काणे ने अपने धर्मशास्त्र के इतिहास में 55 ऐसी विधियाँ गिनायी हैं जो कलिवर्ज्य के अन्तर्गत आती हैं।

हम आगे कुछ उदाहरणों को देखते हैं जिनसे यह सिद्ध हो सकेगा कि कलिवर्ज्य भारतीय व्यवहार परम्परा में कालानुकूल सुधारों की कितनी अधिक गुंजाइश है। प्राचीन ग्रन्थों में ये प्रमाण मिलते हैं कि वेद विहित यज्ञों में हिंसा के अंश भी शामिल थे। बौद्ध तथा जैन श्रमण विचारधाराओं के उदित होने तथा लोक में उनको समर्थन मिलने के बाद जनसामान्य से इस

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रकार के यज्ञों का समर्थन कम हो गया होगा। बाद में वैदिक कर्मकाण्डों की मुख्यधारा में से यज्ञ सम्बन्धी हिंसा को कलिवर्ज्य की श्रेणी में रख दिया गया (मार्कण्डेयपुराण, अपरार्क पृ. 929 पर उद्धृत)।[128] इसी तरह नियोग प्रथा[129] से होने वाले भ्रष्टाचारों को देखते हुए इसे गर्हित मान कर धर्म की मर्यादा से बाहर कर दिया गया होगा। बड़े भाई को जायदाद का सबसे बड़ा हिस्सा देने (=ज्येष्ठांश या उद्धारविभाग) से इसलिए रोक दिया गया कि कलियुग में नैतिकता की कमी के कारण अब ऐसे लोग नहीं रहे जो अपने छोटे भाइयों का अपने पुत्रों की तरह पालन करें। 12 दिन से लेकर 12 साल तक चलने वाले बड़े–बड़े यज्ञ जिन्हें सत्र कहते हैं, उनका अनुष्ठान भी कलियुग में छोड़ दिया गया। इन यज्ञों में लगने वाले खर्च और समय को अव्यावहारिक पाते हुए विचारशील लोगों ने उसे उपासना की सरलतर विधियों के साथ बदल दिया होगा।[130] धर्मशास्त्र की पुरानी पुस्तकों में एक स्नातक के लिए शौच कर्म हेतु जल के लिए कमण्डलु का धारण अनिवार्य किया गया है। लेकिन बाद में इसे ढोना भार की तरह लगा होगा और जल की अपर्याप्ति के कारण अशुद्धि भी बढ़ने लगी होगी। इसलिए इस विधि को वर्जित कर दिया गया।[131] अनेक आचार ऐसे भी हैं जो कलियुग में ही व्यवहार में थे लेकिन बाद में वे अनेक कारणों से वर्जित मान लिये गये। उदाहरण के लिए संन्यास के संबन्ध में व्यासस्मृति का कहना है कि कलियुग के 4400 सालों बाद संन्यास लेना वर्जित है।[132] इसके अतिरिक्त कुछ प्रमुख कलिवर्ज्य विधियाँ हैं– सपिण्ड तथा सगोत्र कन्या से विवाह, व्यभिचारिणी स्त्री का त्याग, पुरुषमेध, अश्वमेध, राजसूय आदि यज्ञप्रकार, आजीवन नैष्ठिक ब्रह्मचर्य अथवा दीर्घ ब्रह्मचर्य इत्यादि।[133] इनमें से अनेक विधियों के छोड़ने के स्वास्थ्यपरक तथा अन्य व्यावहारिक कारण हैं। अनेक विधियों को स्त्रियों के तथा अन्य वर्गों के प्रति उदार और करुणापूर्ण दृष्टि के कारण कलिवर्ज्य घोषित किया गया है। अन्ततः, पी.वी. काणे के शब्दों में कहा जा सकता है– "कलिवर्ज्य का प्रकरण उन लोगों के लिए एक बड़ा उत्तर हो सकता है जो पूरब को अपरिवर्तित मानते हैं। ...यह प्रकरण निश्चित रूप से यह बताता है कि समाज के प्रचलनों के अनुकूल न होने के कारण किस प्रकार वेदों, तथा स्मृतिकारों के आदेशों को दरकिनार कर दिया गया था। कलिवर्ज्य उन लोगों के हाथों में एक बहुत बड़ा उपकरण देता है जो विवाह, दायविभाग, तथा भारतीय समाज से सम्बद्ध अन्य प्रथाओं में सुधार करना चाहते हैं।"[134]

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हमने देखा कि भारतीय ज्ञान परम्परा ने उपर्युक्त चार प्रविधियों का उपयोग करके ज्ञानप्रवाह के सातत्य को बनाये रखा तथा उसमें नयी नयी धाराएँ भी जोड़ीं। इन्हीं स्वस्थ उपोद्बलनों के नाते यह ज्ञान परम्परा प्रारम्भ से अब तक जीवन्त रह सकी हैं। ध्यातव्य है कि इस परम्परा के अन्तर्गत पुनरन्वेषण, परिमार्जन, संक्षेपण, अनिष्टहान आदि इस कारण से हो पाये क्योंकि इस परम्परा के उन्नायक, अवतारों, महर्षियों, पण्डितों तथा विद्वानों ने इसके लिए हमेशा से गुंजाइश छोड़े रखी। 'मेरे द्वारा कही गयी बात ही परम सत्य है, इसे परीक्षण न करके यथावत् ग्रहण कर लिया जाये' – इस तरह के ऐकान्तिक दावे उन्होंने नहीं किये। इसके विपरीत लोगों को विचार स्वातंत्र्य का उपयोग करते हुए तथा कहीं हुई बात को परीक्षणपूर्वक ग्रहण के लिए प्रोत्साहित किया गया है। तथागत बुद्ध का कहना है कि 'मेरे वचनों को परीक्षण के बिना केवल मैं कह रहा हूँ इस आदर के कारण स्वीकार मत करो'।[135] श्रीकृष्ण गीता के अन्त में अपने उपदेशों का महत्त्व ख्यापित करने के बावजूद अर्जुन से कहते हैं कि 'मेरे उपदेशों पर विचार–विमर्श करने के बाद तुम्हारी इच्छा जैसी हो वैसा करो'।[136] अनेक ग्रन्थकारों ने भी इस आशय के विचार किये हैं कि ग्रन्थ के परीक्षण के बाद जो कुछ सत्य और श्रेयस्कर हो उसे ही लिया जाये। वराहमिहिर ने बृहत्संहिता (105.5) में यह विज्ञापित किया है कि "मेरे लिखे ग्रन्थों को प्रयोग में लाते समय जो कुछ अवैज्ञानिक लगे, या पाण्डुलिपि (लिखावट) में दोष के कारण जो कुछ त्रुटिपूर्ण जँचे, या मेरे द्वारा जो कुछ त्रुटिपूर्ण हो गया हो या अल्प रह गया हो या न हो सका हो, वह विद्वानों द्वारा राग का त्याग करके ठीक कर लिया जाना चाहिए"।[137]

सूत्र ग्रन्थों को ठीक से समझाने तथा उन पर चर्चा करने के लिए वृत्तियाँ अर्थात् व्याख्याएँ लिखी गयीं। वृत्तियों के फलस्वरूप वार्तिक ग्रन्थों का उदय हुआ।[138] वार्तिक ग्रन्थ सूत्रों के साथ 3 प्रकार से बर्ताव करते हैं – 1. जो कहा गया है उनकी व्याख्या करते हैं, 2. जो नहीं कहा गया है उन्हें जोड़ते हैं, 3. जो ठीक से नहीं कहा गया है उन्हें सुधारते हैं। उनका लक्षण ही यही है।[139] इस तरह समस्त भारतीय ज्ञान परम्परा अपने पूर्व का अन्वेषण, उपोद्बलन तथा सातत्य है। इस प्रकार यह बात प्रकट होती है कि भारतीय ज्ञान परम्परा के निरन्तर नवीन होने और परिवर्धित होने में बड़ा कारण प्रारम्भ से ही उसके परीक्षणीय होने के विकल्पों का खुला होना है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

3. अर्वाचीन काल में भारतीय ज्ञान परम्परा के विकास के सोपान

ज्ञान–परम्परा लोक के व्यवहार से नितान्त सम्पृक्त है। दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। भारत में ज्ञान तथा आचार दोनों में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव का होना नितान्त आवश्यक माना गया है (हतं ज्ञानं क्रियां विना)। परम्परा के द्वारा व्यवहार को अद्यतन करने के उपर्युक्त जितने भी साधन बताये गये हैं उन्हीं प्रकारों से परम्परा में ज्ञान का भी परिवर्तन, परिवर्धन तथा पुनरन्वेषण होता रहा है। परम्परा में ये सारी प्रक्रियाएँ हर युग में चलती ही रहती हैं। भूतकाल की ही तरह वर्तमान में भी ये हो रही होती हैं। बहुत बार वर्तमान की ये प्रक्रियाएँ हमें समझ में नहीं आतीं। वस्तुतः हम जब अतीत को देखते हैं तो उसमें हुए परिवर्तन अथवा विचलनों के बिन्दु स्पष्ट रूप से दिखायी देते हैं। उनके स्पष्ट दिखायी दे पाने का कारण यह होता है कि हम भूतकाल को संकुचित (सम्पिण्डित) रूप में अथवा एक कालखण्ड के रूप में एक साथ देख पाते हैं। वर्तमान में चूँकि हम स्वयं रहते हैं इसलिए उसके परिवर्तनों और उन परिवर्तनों की दिशाओं को स्पष्ट रूप से देख सकना कठिन होता है। भारतीय ज्ञान परम्परा को क्षीण यहाँ तक कि मृत कह देना वर्तमान के सम्यक् आकलन की योग्यता के अभाव के कारण ही है। वस्तुतः भारतीय ज्ञान परम्परा पिछली सहस्राब्दियों की ही तरह इस समय भी अपने आपको परिमार्जन, पुनरन्वेषण तथा मौलिकताओं के माध्यम से नवीनतर बना रही है। इस बात को सिद्ध करने के लिए हम पिछली शताब्दी तथा वर्तमान समय की भारतीय ज्ञान परम्परा के मौलिक शास्त्रीय विकासों तथा महनीय ज्ञान पुरुषों के दिङ्मात्र निदर्शन से सिद्ध कर सकते हैं।

3.1. अर्वाचीन युग के महनीय ज्ञान पुरुष (पण्डित)

भारतीय ज्ञान परम्परा में पण्डितों की निरन्तरता रही है। इन्हीं शास्त्रमूर्ति विद्वानों के माध्यम से परम्परा निरन्तर जीवित रही है। किसी भी पूँजी की सुरक्षा तीन समेकित प्रकारों से की जा सकती है। ये हैं – 1. मूल धन की पूर्णतः सुरक्षा, 2. मूलधन में और अधिक वृद्धि तथा 3. बढ़े हुए धन का योग्य पात्रों में निवेश।[140] अर्वाचीन युग में उत्पन्न ये विद्वान् न केवल पूर्वसंचित ज्ञान–निधि की सुरक्षा करते रहे हैं बल्कि उसमें अनेक नवीन आयाम जोड़कर तथा ज्ञान निधियों की नवीन व्याख्याएँ करके उन्हें विस्तृत भी करते रहे हैं। वे अपनी बृहत् शिष्य मण्डली भी तैयार करते रहे हैं जो इस परम्परा के अगले वाहक बन सकें। इनके साथ ही साथ वे आधुनिकता के साथ संवाद भी करते रहे। वर्तमान का ठीक से आकलन न कर पाने के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कारण अल्प दृष्टि वाले कुछ लोगों का कहना है कि पिछली शताब्दियों में संस्कृत पाण्डित्य का क्षरण हो गया।[141] वस्तुतः भारतीय मेधा के पाण्डित्य ने इस काल में जो नये नये रूप धारण किये हैं उनका ठीक ठीक आकलन नहीं हो सका है।[142] इसके पीछे कारण हैं वर्तमान का सम्यक् आकलन करने में होने वाली स्वाभाविक कठिनाई[143] तथा भारतीय मेधा के प्रति दुर्भाग्यपूर्ण ईर्ष्या जो औपनिवेशिक और यूरोपीय श्रेष्ठता के भाव से उपजी है। यदि हम शोधपूर्ण दृष्टि से देखें तो पिछली शताब्दियों में हमें भारतीय ज्ञान परम्परा का पाण्डित्य निरन्तर परिवर्धमान दिखाई देता है, और यह अपप्रचार कि 'बारहवीं शताब्दी के पश्चात् संस्कृत की परम्पराएँ छीजती चली जाती हैं', निःसार हो जाता है। जैसा कि त्रिपाठी (2018,116) का मानना है–"वस्तुतः उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों में पाण्डित्य का अभूतपूर्व विकास रुका नहीं है। इन शताब्दियों में लगभग ऐसे सैकड़ों पण्डितों के नाम गिनाये जा सकते हैं, जिनका असाधारण ज्ञान और चिन्तन कपिल, कणाद और गौतम के चिंतन के धरातलों का स्पर्श करता है। अपने अध्ययन, मनन, चिंतन और जीवन व्यवहार में वे प्राचीन काल के ऋषियों जैसे ही लगते हैं"। इन महनीय विद्वानों में वैदिक विज्ञान का दार्शनिकीकरण करने वाले मधुसूदन ओझा (1866–1939), नवीन दर्शन प्रस्थान की स्थापना करने वाले रामावतार शर्मा (1877–1929), अकेले वाचस्पत्य जैसा विश्वकोशीय ग्रन्थ की रचना करने वाले तारानाथ तर्क वाचस्पति (1812–1885) अग्रगण्य हैं। पण्डितों की यह परम्परा केवल श्रीमन्तों के दरबारों अथवा शैक्षणिक संस्थानों तक ही सीमित नहीं थी। बहुत से विद्वान् किसी भी प्रकार की वृत्ति को बिना स्वीकारे स्वयं कार्य करते हुए गृहस्थ बनकर कम से कम पर जीवन गुजारते रहे। इसके अतिरिक्त मठों अथवा मन्दिरों में रहने वाले यति, सन्न्यासी शास्त्र की जीवन्त मूर्ति की भाँति अब भी विद्यमान हैं। ये स्थान अभी भी संस्कृत विद्या के उद्दीप्त केन्द्र हैं। दर्शन तथा धर्म सम्बन्धी शास्त्रीय परम्पराओं में दक्ष साधु सन्न्यासी अभी भी ज्ञान की चर्चाओं में संलग्न दिखाई देते हैं। यद्यपि समाज तथा शासन व्यवस्था बदलने के कारण इनमें कुछ क्षीणता भी आयी है।

उपनिवेशकाल की विषम परिस्थिति में भी भारतीय पाण्डित्य परम्परा का क्षय नहीं हुआ। इतना सत्य अवश्य है कि औपनिवेशिक कुचक्रों के कारण भारत का जो आत्मखण्डन हुआ उसकी शिकार भारतीय जनता ने पण्डितों के द्वारा किये गये कार्यों को उतना महत्त्व नहीं दिया और धीरे धीरे उन्हें व्यर्थ भी समझा जाने लगा। यह कार्य मैकॉले द्वारा षड्यन्त्र पूर्वक किया

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

गया। इसके अन्तर्गत संस्कृत के पण्डितों को आर्थिक तथा गौरव दोनों प्रकार की हीनता के द्वारा लुंज पुंज कर दिया गया।[144] इस कारण उनके द्वारा किये गये महत्त्वपूर्ण कार्यों का न तो संज्ञान लिया गया और न ही वे अच्छी तरह प्रकाशन और प्रसार में आ सके। बाद में, जब यह अपप्रचार समाज में बहुत अधिक बद्धमूल हो गया तो बहुत से पण्डित खुद ही आत्महीनता के शिकार हो गये और उन्होंने अपने लिखित ग्रन्थों अथवा ग्रन्थों के लेखन की उपेक्षा की। स्वतन्त्रता के बाद दो कारकों ने संस्कृत विद्या का भारी नुकसान किया था। उसमें से पहला है संस्कृत की पारम्परिक तथा आधुनिक दो रीतियों से शिक्षा का प्रारम्भ, तथा दूसरा त्रिभाषा सूत्र जिसके अन्तर्गत संस्कृत की जान बूझ कर उपेक्षा की गयी।[145] संस्कृत विद्या के क्षय का सीधा अर्थ है भारतीय ज्ञान परम्परा के मूल स्रोतों का सूख जाना।

'ये सभी पण्डित अपने आप में बड़ी संस्था बनकर अपने जीवन काल में सक्रिय रहे।...उनके अवदान से संस्कृत की ज्ञान–परम्परा ही नहीं, भारतीय साहित्य और भारतीय समाज भी वैचारिक दृष्टि से सम्पन्नतर बना।[146]' पण्डित संस्कृत शिक्षण पद्धति में जमे जरूर रहते थे लेकिन उनका लाभ सारे समाज को मिलता था। इसलिए पण्डितों की परम्परा की सुरक्षा केवल संस्कृत विद्या की सुरक्षा नहीं है, बल्कि भारतीय ज्ञान परम्परा की सुरक्षा भी है। लेकिन भारतीय ज्ञान परम्परा की वारिस पण्डित मण्डली भारत से समाप्त हो गयी है यह नहीं समझना चाहिए। वह देश और काल के अनुसार अनेकानेक रूप धारण करके सामने आ रही है। आज के युग में आवश्यक नहीं है कि पण्डित पुरानी वेश भूषा से युक्त ही मिलें। हमें पण्डितों की पुरानी अवधारणा को बदलना चाहिए क्योंकि उनकी कार्य शैली बदल चली है। तकनीकों के आगमन से शायद ग्रन्थधारण की वह आवश्यकता न रही हो लेकिन ग्रन्थों के मर्म को समझने वाले तथा उस आधार पर समाज में सार्थक हस्तक्षेप करने वाले भारतीय ज्ञान परम्परा में निष्ठ विद्वानों की एक नयी आशा से भरी पीढ़ी आ चुकी है। ये पारम्परिक पण्डितों की विपन्नता की स्थिति के आगे घुटने टेकने वाले नहीं हैं क्योंकि बहुत से अपनी जीविका आधुनिक व्यवसायों से ग्रहण करने वालो में से हैं। विद्वानों की यह पीढ़ी सर्वथा समर्थ है।

3.2. शास्त्रों का अर्वाचीन विकास

भारतीय ज्ञान परम्परा जिन शास्त्रों में निवास करती है उनका इतिहास तो हजारों वर्ष पुराना है। सौभाग्य है कि अर्वाचीन काल में न केवल

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उन शास्त्रों की सुरक्षा हुई है बल्कि उनमें अनेक नये आयाम भी जोड़े गये हैं। यह कार्य जितना संस्कृत भाषा के माध्यम से हुआ है उससे कहीं अधिक देसी भाषाओं के माध्यम से हुआ है। विभिन्न शास्त्रों का संरक्षण तथा उनका निरन्तर विकास इस बात को स्पष्ट करता है कि भारतीय ज्ञान परम्परा में जीवन्त निरन्तरता है। इसी बात को व्यक्त करने के लिए अर्वाचीन युग में हुए कुछ विशेष शास्त्रों के विकास की चर्चा प्रासंगिक प्रतीत होती है –

व्याकरणशास्त्र –

आधुनिक युग में पाणिनि की प्रक्रिया को वैज्ञानिक रखते हुए सरल बनाने का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कार्य किया गया है। आधुनिक प्रक्रिया चिन्तकों ने सूत्रक्रम एवं प्रक्रियाक्रम दोनों का एक साथ समावेश करके व्याकरण शिक्षण हेतु नवीन प्रविधियाँ विकसित की हैं। ये प्रविधियाँ प्रचलित प्रविधियों से भिन्न होने के कारण व्याकरण–शिक्षण हेतु तृतीय प्रकार की नवीन दृष्टि प्रस्तुत करती हैं। राजराज वर्मा (1863–1918 ई., लघुपाणिनीयम्) गोपाल शास्त्री दर्शनकेसरी (पाणिनीयप्रबोध) दोनों ने व्याकरण के प्रारम्भिक अध्येताओं को दृष्टि में रखकर प्रक्रियाग्रन्थ रचे हैं। इनमें सूत्रों को इस प्रकार सँजोया गया है कि पूर्वसूत्र से उत्तरसूत्र में अनुवृत्ति स्वयं आ सके। गोपालशास्त्री दर्शनकेसरी ने सूत्रपाठ, धातुपाठ, गणपाठ, उणादि तथा लिङ्गानुशासन का ऋजुपाणिनीयम् में संक्षिप्त संकलन किया है। लघुपाणिनीयम् में ग्रन्थकार प्रत्येक व्याकरणिक कार्य का कौमुदी क्रम के विपरीत अगल–अलग खण्ड में विचार करना चाहते हैं। आधुनिक प्रक्रिया चिन्तकों में सर्वाधिक उल्लेखनीय विचार पुष्पा दीक्षित (जन्म 1942) के हैं। इन्होंने पाणिनीय सूत्रों में विद्यमान सूक्ष्म संकेतों के आधार पर धातुपाठ को प्रकिया के अनुसार आकारान्त, इकारान्त आदि तेरह भागों में वर्गीकृत किया है। इस नवीन मार्ग से अङ्गकार्य करने में सरलता होती है। इन्होंने सार्वधातुक व आर्धधातुक संज्ञाओं को आधार बनाकर तिङन्तप्रक्रिया का विवेचन किया है। सार्वधातुक प्रत्ययों के लिये गणाधारित धातुपाठ बनाया तथा आर्धधातुक प्रत्ययों के लिये गण रहित धातुपाठ बनाया है। इन्होंने प्रकृति तथा अंगकार्यों के पृथक् वर्ग बनाकर प्रत्येक की विशिष्ट व्याख्या की है तथा लौकिक एवं वैदिक प्रयोगों को एक साथ सिद्ध किया है। प्रक्रिया के अतिरिक्त अर्वाचीन युग में सूत्रार्थ को सम्यक् रीति से समझाने के लिए संस्कृत व्याकरण की परम्परा में दो नयी शैलियों का आविष्कार हुआ–न्यास तथा परिष्कार (अर्थप्रणाली)। पाणिनि के किसी सूत्र को लेकर उसमें लाघव

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के लिए परिवर्तन करने के प्रयत्न को पारिभाषिक रूप से 'न्यास' कहा जाता है। इन परिवर्तनों को किया जाय तो कौन सी कठिनाइयाँ आ सकती हैं और उन प्रसक्तियों को कैसे दूर किया जाये, इत्यादि सूक्ष्म विषयों पर चामत्कारिक ढंग से विचार किया जाता है। ये युक्तियाँ पहले केवल गुरु–शिष्य परम्परा से जानी जा सकती थीं। अब इनको बताने वाले क्रोडपत्र भी प्रकाशित हो गये हैं। सूर्यनारायण शुक्ल (1895–1944) पिछली सदी में इस विधा के पारंगत महान् विद्वान् थे।[147] वे अखिल भारतीय पण्डित परिषद् के संस्थापक थे। उन्होंने इस विषय पर वादरत्न नामक ग्रन्थ लिखा।

व्याकरण दर्शन व्याकरण की एक प्रमुख़ धारा है जो भारतीय भाषिक चिन्तन को सार्वभौमता प्रदान करती है। रघुनाथ शर्मा द्वारा समस्त वाक्यपदीय की अम्बाकर्तृ टीका इस युग की महान् उपलब्धि है। रामप्रसाद त्रिपाठी का ग्रन्थ "पाणिनीयव्याकरणे प्रमाणसमीक्षा" पाणिनीय शास्त्र के लिए स्वतन्त्र प्रमाणशास्त्र को उपस्थापित करता है। इसके लिए उन्होंने आधुनिक अनुसन्धान शैली तथा प्राचीन विचार विधि दोनों का उपयोग किया है। 'स्फोट' वैयाकरणों का एक सुप्रसिद्ध सिद्धान्त है जिसकी स्थापना यह बताने के लिए की गयी है कि सम्प्रेषण की प्रक्रिया में अर्थ का वाचक तत्त्व कौन होता है? कौण्ड भट्ट ने स्फोटनिर्णय में स्फोट के आठ भेद बताये हैं। इस शताब्दी के मूर्धन्य वैयाकरण आचार्य रामाज्ञा पाण्डेय ने कौण्डभट्ट द्वारा कल्पित स्फोट–भेदों को शाब्दिकों के सिद्धान्त के विरुद्ध बताते हुए उसकी नयी संकल्पना प्रस्तुत की है।[148] उन्होंने कौण्डभट्ट सम्मत 'वर्णस्फोट' का खण्डन किया है तथा स्फोट के 16 भेद गिनाये हैं। इनके मत का खण्डन आचार्य बदरीनाथ शुक्ल ने किया। रामाज्ञा पाण्डेय के मत का समर्थन आचार्य राम प्रसाद त्रपाठी ने किया। उन्होंने स्फोट के 16 भेदों को उपलक्षण मात्र मानते हुए इन्हें और आगे ले जाकर 32 भेदों वाला बना दिया।[149] युधिष्ठिर मीमांसक (1909–1994) पिछली सदी के महान् वैयाकरण तथा इतिहासकार थे। उन्होंने व्याकरण शास्त्र के इतिहास नामक अपनी कृति के द्वारा बहुत महत्त्वपूर्ण खोजों को सबके सामने रखा।

भाषाविज्ञान –

संस्कृत वाङ्मय प्राचीन, अविच्छिन्न तथा विपुल है। इसलिए इसमें ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के लिए उपयोगी पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है। पाश्चात्त्य विद्वानों ने जब संस्कृत का अध्ययन किया तब उन लोगों में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भाषाओं के प्रति एक तुलनात्मक दृष्टिकोण का विकास हो सका। इसी के फलस्वरूप तुलनात्मक भाषाशास्त्र नामक एक नये अनुशासन का उदय हो सका। रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर (1837–1925) ने अपने लेखों तथा भाषणों के माध्यम से संस्कृत भाषा विज्ञान के अध्ययन की नींव डाली। पाण्डुरंग दामोदर गुणे (An Introduction to Comparative Philology), गणेश बा. पळसुले (युभातः संस्कृतं प्रति) ने इस कार्य को जारी रखा। सुमित्र मंगेश कत्रे (1906–1998) ने भारतीय आर्य भाषाओं तथा पाणिनि पर विशेष कार्य प्रस्तुत किये। सुनीति कुमार चटर्जी (1890–1977, हिन्दी, बाँग्ला), बाबूराम सक्सेना (जन्म 1897, अवधी), उदयनारायण तिवारी (भोजपुरी) आदि ने भारत की अन्य भाषाओं का भाषावैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया।

दर्शनशास्त्र –

रामावतार शर्मा (1877–1928) ने परमार्थदर्शनम् के माध्यम से छह दर्शनों से भिन्न एक नये दर्शन का प्रस्ताव दिया। इसमें उन्होंने 'सर्वात्मकतावाद', 'विश्ववैचित्र्यवाद' तथा 'देहात्मवाद' जैसे तीन नये सिद्धान्त प्रस्तावित किये। बदरीनाथ शुक्ल ने न्यायदर्शन के अन्तर्गत 'नव्यदेहात्मवाद' तथा 'मुक्ति के आनन्दस्वरूप' की सम्भावनाएँ खोजने का यत्न किया। उनके अनुसार मन के सहयोग से शरीर को आत्मा मानना सम्भव है। आत्मा को अतिरिक्त द्रव्य मानने की आवश्यकता नहीं है। देह और मन के द्वारा ही आत्मा से सिद्ध होने वाले प्रयोजनों का निर्वाह शक्य है। इस मत में प्रत्यक्ष योग्य गुणों– बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न इनका आश्रय देह को मान लिया जाना चाहिए, जबकि प्रत्यक्ष न होने वाले धर्म, अधर्म, भावना का आश्रय मन को। इस तरह आत्मा को मानने की आवश्यकता नहीं होगी।[150] ऐसा करने से आत्मा को मानने वाले व्यक्ति में अकर्मण्यता आदि अनेक सम्भावित दोष नहीं आ सकेंगे। गोपीनाथ कविराज (1887–1976) तन्त्र तथा अन्य भारतीय दर्शन परम्पराओं के प्रखर अध्येता थे। अपने अध्ययन का आत्मज्ञान के लिए उपयोग करते हुए उन्होंने जिस सिद्धान्त को प्रवर्तित किया उसे 'अखण्डमहायोग' कहते हैं। इसे वे 'पूर्णअद्वैतवाद' का नाम भी देते हैं। इस सिद्धान्त में सामूहिक मुक्ति और सामूहिक साधना की नवीन कल्पनायें हैं। उन्होंने "प्रिंसेस आफ वेल्स सरस्वती भवन टेक्स्ट्स", "प्रिंसेस आफ वेल्स सरस्वती भवन स्टडीज" तथा "योगतंत्र सीरीज" जैसी शृंखलाओं का संपादन करके अनेक दुर्लभ पांडुलिपियों को तथा उन पर शोधों को प्रकाशित किया। सिद्धों तथा नाथों की परंपरा, शैवदर्शन और शाक्तदर्शन पर कविराज ने आधारभूत कार्य किये हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

गोविन्द चन्द्र पाण्डेय सौन्दर्य के सिद्धान्तों की व्याख्या वेदान्त के अध्यासवाद और अभिनवगुप्त के आभासवाद पर अपने ग्रन्थ सौन्दर्य दर्शन विमर्शः में की है। भक्ति दर्शन विमर्शः नामक ग्रन्थ में उन्होंने शास्त्र के साथ तर्क का आश्रय लेकर भक्ति की व्याख्या की है। पिछले दशकों में मौलिक चिन्तन करने वाले आचार्य तथा उनके वादों में से चर्चायोग्य कुछ नाम इस प्रकार हैं–यशदेवशल्य (1928–2021) का 'चिदद्वैतवाद'[151], गोविन्दचन्द्र पाण्डेय (1923–2011) का 'संस्कृतिदर्शन', दयाकृष्ण (1924–2007) का 'सामाजिक दार्शनिक विमर्श', संगमलाल पाण्डेय (1928–2002) की 'गहनज्ञानमीमांसा'।[152] इन सभी आधुनिक दार्शनिकों के विमर्श के मूल में भारतीय ज्ञान परम्परा स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है।

अभी वर्ष 2007 में ही स्वामिनारायण द्वारा प्रवर्तित नवीन वेदान्त के अनुरूप साधु भद्रेशदास (1966–) ने प्रस्थानत्रयी (ब्रह्मसूत्र, भगवद्गीता, उपनिषद्) पर स्वामिनारायणभाष्यों की रचना पूर्ण की है। यह दर्शन रामानुज से प्रभावित होते हुए भी वल्लभ के शुद्धाद्वैत से भी ग्रहण करता है, फिर भी दोनों से भिन्न है। इस दर्शन के अनुसार तत्त्व 5 हैं। जीव, माया, ईश्वर, अक्षरब्रह्म तथा परब्रह्म। भारत भर के संस्कृत विद्वानों ने इस भाष्य की मौलिकता की प्रशंसा की है। 2017 में इन्होंने ही स्वामिनारायणसिद्धान्तसुधा नामक ग्रन्थ की भी रचना की है। स्वामिनारायण संप्रदाय विश्व भर में अपने लोकोपकारी कार्यों के लिए जाना जाता है। उसका समर्थन करने वाला यह भाष्य भारतीय ज्ञान परम्परा के जीवन्त प्रवाह का प्रमाण तो प्रस्तुत करता ही है, साथ ही यह उसकी लोकोपयोगिता तथा लोकोपकारिता को भी स्पष्ट करता है।

कश्मीर शिवाद्वयवाद –

अभिनव गुप्त तथा उनके द्वारा संश्लेषित प्रत्यभिज्ञा त्रिक दर्शन की कड़ी जो कश्मीर की विषम परिस्थितियों के कारण पिछली सदियों में टूट सी गयी थी आधुनिक काल में पुनः जागृत हो गयी है। राजानक लक्ष्मणजू (1907–1991) जैसे जीवन्त साधकों के चलते और अनेकानेक उत्तम विद्वानों के अध्यवसाय से यह शास्त्र आज भारतीय विद्या के सबसे लोकप्रिय अनुशासनों में एक बन गया है। अकादमिक जगत् में कश्मीर शिवाद्वयवाद का परिचय 20 वीं सदी में छोटे छोटे टुकड़ों में होता है। गोपीनाथ कविराज (1887–1976) ने सबसे पहले इस क्षेत्र में कदम बढ़ाया। कान्तिचन्द्र पाण्डेय (1898–1974 ई.) ने बीसवीं शताब्दी में अभिनवगुप्त को भारतीय दर्शन और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

काव्यचिन्तन के केन्द्र में रखा। इसे एक सुसम्बद्ध दर्शन के रूप में सामने ले आने का श्रेय उन्हीं को है। उन्होंने भारतीय सौन्दर्यशास्त्र पर भी महत्त्वपूर्ण कार्य किये। 1911 से काश्मीर संस्कृत सिरीज के प्रकाशनों में इस दर्शन का लगभग 20 प्रतिशत साहित्य प्रकाशित हुआ। बलजिन्नाथ पण्डित ने स्वातंत्र्यदर्पण नामक नवीन मौलिक ग्रन्थ की रचना की। इसमें उन्होंने मुक्ति के सम्प्रत्यय तथा उसके प्रकारों की नयी व्याख्या की। इसमें राष्ट्रमुक्ति भी एक प्रकार है।[153] रामेश्वर झा ने पूर्णताप्रत्यभिज्ञा नामक मौलिक ग्रन्थों की रचना करके इस दर्शन में नये आयाम जोड़े। नवजीवन रस्तोगी ने शिवाद्वयसम्मत प्रमाणशास्त्र के पुनर्व्यवस्थापन का महनीय कार्य किया है।

धर्मशास्त्र –

भारतीय धर्मशास्त्र की युगानुकूलता की चर्चा ऊपर कर आये हैं। वर्तमान शताब्दी में भी इस शास्त्र ने समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में कोई कसर नही छोड़ी। यद्यपि इसकी मूल सामग्री में बदलाव नहीं हुआ लेकिन नये युग की समस्याओं के अनुकूल इसकी शैली तथा उपागम में पर्याप्त समायोजन किये गये है। 19वीं सदी के निबन्धकारों ने शताब्दियों पहले रचे गये मूल ग्रन्थों को वर्तमान समस्याओं के समाधान के प्रमाण के रूप में देखा।[154] भारतीय ज्ञान के इस क्षेत्र से परम्परा की जीवन्तता के बड़े उदाहरण दिये जा सकते हैं। 1674 में गागाभट्ट (मूल नाम विश्वेश्वर भट्ट) द्वारा छत्रपति शिवाजी के राज्याभिषेक की विधि के लिए एक नवीन ग्रन्थ ही लिखा गया। 1775 से 1875ई. के मध्य तैयार कराये गये तन्त्र ग्रन्थ महानिर्वाणतन्त्र में स्त्रीशिक्षा, घरेलू हिंसा निषेध[155] जैसे कुछ उदार सामाजिक विषय भी ग्रहण किये गये है।[156] तारानाथ तर्कवाचस्पति ने स्त्रीशिक्षा, विधवाविवाह तथा विदेश यात्रा के समर्थन में धर्मशास्त्रों का अनुकूल प्रयोग किया। पाण्डुरंग वामन काणे (1880–1972ई.) की हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र धर्मशास्त्र तथा उसके सम्बन्धित विषयों का अद्वितीय विश्वकोशात्मक ग्रन्थ है। वे स्वयं अपने आपको पारम्परिक अर्थों में निबन्धकार मानते हैं। इस ग्रन्थ में यत्र तत्र जिस प्रकार से उन्होंने परम्परा की वैज्ञानिक टिप्पणियों के साथ व्याख्या की है वह अपूर्व है। धर्मकोश का सम्पादन तथा प्रकाशन धर्मशास्त्र के क्षेत्र में वर्तमान युग की अपूर्व घटना है। इसके अनेक भाग प्रज्ञा पाठशाला मण्डल से तर्कतीर्थ लक्ष्मण शास्त्री जोशी (1901–1994 ई.) के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुए। जोशी जी परम्परा तथा आधुनिकता के अपूर्व समन्वय थे। उन्होंने तर्क को धर्म का आधार मानते हुए हिन्दू समाज में उत्पन्न हुई

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रूढियों और अन्धविश्वासों की अपने लेखनों द्वारा पुनःपरीक्षा की। पिछली सदी के प्रसिद्ध विद्वान् पी. रामचन्द्रुडु (1927–2015 ई.) ने 2004 ई. में कौण्डिन्यस्मृति नामक एक नवीन स्मृति संस्कृत में लिखी तथा उसका स्वयं अंग्रेजी अनुवाद किया। 2009 में उन्होंने इसका तेलुगु अनुवाद भी प्रस्तुत किया। धर्म सम्बन्धी अपने अध्ययनों के लिए समस्त विश्व में विख्यात प्रो. अरविन्द शर्मा (जन्म1940) ने मानवस्मृति नामक 12 अध्यायों में एक नवीन स्मृति का संग्रह किया है। यह स्वतन्त्र तथा स्वोपज्ञ ग्रन्थ न होकर विभिन्न स्मृतियों तथा सुभाषित ग्रन्थों से लिए गये सर्वांगीण विषयों का संग्रह है। यह ग्रन्थ अभी प्रकाशनाधीन है।

कविता –

किसी भी भाषा और परम्परा की जीवन्तता का बड़ा प्रखर लक्षण है उसमें उसकी भावनाओं के साथ संवलित कविता का जीवित रहना तथा उसमें नये प्रयोगों का होते रहना। इसका कारण यह है कि कविता सर्जनात्मकता का सबसे उत्कृष्ट तथा प्रबल उदाहरण होती है। पिछली शताब्दियों को पश्चिमी आलोचकों ने संस्कृत कविता का अपकर्ष काल कहा है, लेकिन वस्ततुः विधाओं की विभिन्नता, अस्पृष्ट विषयों का परिग्रहण, प्रचुर साहित्य सृजन, आदि विशेषताओं के कारण 1200ई. के बाद का अर्वाचीन काल संस्कृत साहित्य के विस्तार का काल है।[157] आधुनिक कवियों में जो पाण्डित्य तथा नवीनता के लिए जाने जा सकते हैं उनमें से अत्यन्त अर्वाचीन कुछ कवि इस प्रकार हैं– गुमानी पन्त (जन्म 1891), गलगलि रामाचार्य,गंगाधरशास्त्री, भट्टमथुरानाथ शास्त्री (जन्म 1889), रामावतारशर्मा, पण्डिता क्षमाराव आदि। वर्तमान इक्कीसवीं शताब्दी में भी पाँच पीढ़ियों के संस्कृत कवि एक साथ अपनी रचना की छटा बिखेर रहे हैं।[158] इनमें केवल कुछ के नाम इस प्रकार हैं– वासुदेव द्विवेदी शास्त्री (1913–2004, अद्यापि), महाप्राज्ञ (1920–2010,अश्रुवीणा),बच्चूलाल अवस्थी (1918–2005, योषासप्ततिका), शंकरदेव अवतरे (1920–, नारीगीतम्), गोविन्दचन्द्र पाण्डेय (1923–2010, भागीरथी, अस्ताचलीयम्), प्रभाशंकर जोशी (1925–, भीमायनम्), परमानन्दशास्त्री (1926–, आनन्दगालिबीयम्), रामकरण शर्मा (1927–2019, कविता), सत्यव्रत शास्त्री (1930–, रामकीर्तिमहाकाव्यम्), जगन्नाथ पाठक (मृद्रीका), रेवा प्रसाद द्विवेदी (1935–2021, स्वातन्त्र्यसम्भवम्, कुमारविजयम्), रमाकान्तशुक्ल (1940–, भाति मे भारतम्), भास्कराचार्य त्रिपाठी (1942–2008, मृत्कूटम्), रव्वा श्रीहरि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(1943–, मातृगीतम्), अभिराज राजेन्द्रमिश्र (1943–, अरण्यानी, मधुपर्णी, मत्तवारणी), राधावल्लभत्रिपाठी (1949–, सन्धानम्, धीवरगीतम्), हर्षदेव माधव (1954–, तव स्पर्शे स्पर्शे, बुद्धस्य भिक्षापात्रे), विन्ध्येश्वरी प्रसाद मिश्र (1956–,सृजति शङ्खनादं किल कविता), महराजदीन पाण्डेय (काक्षेण वीक्षितम्, मध्ये यक्षमेघयोः), इच्छाराम द्विवेदी (1961–2019, प्रश्नचिह्नम्), शतावधानी रा. गणेश (1962, साप्तपदीनम्, कवितावनितोत्सवः), शंकर राजारामन् (चित्रनैषधम्, भारावतारस्तवः, निपुणप्राघुणम्)।

काव्यशास्त्र –

नवीन काव्यशास्त्र की आवश्यकता हमेशा विशेष प्रकार की कविता की प्रचुर रचना के बाद ही होती है। आधुनिक युग में संस्कृत में जो नवीन अलंकारशास्त्र उद्भूत हुए हैं वह उसके साहित्यिक जीवन्तता के पुष्टतर प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। 10वीं सदी में ध्वनि सिद्धान्त के आने के बाद गौणतर हो गया अलंकार सिद्धान्त आधुनिक काव्यशास्त्र के माध्यम से पुनराविष्कृत हुआ है। रेवा प्रसाद द्विवेदी ने "एक काव्यचिन्तक तथा सौन्दर्यशास्त्री के रूप में कविता के अहम्–आगम का आविष्कार किया।... अलंभाव या सौन्दर्य की समग्रता ही अलंकार है। अलंकार का यदि पूर्णांगभाव हो तो रस भाव आदि की अपेक्षा नहीं रह जाती। उनके अनुसार अर्थ ही काव्य है। वे शब्दवृत्तियों के सारे सिद्धान्त को तिरस्कृत करते हैं, इनके स्थान पर द्विवेदीजी काव्यरचना प्रक्रिया की वाणी के चार सोपानों पर व्याख्या करते हैं।[159]" 2004 में डा. रामप्रताप वेदालंकार का चमत्कार विचार चर्चा काव्य शास्त्र का नवीन ग्रन्थ आया। राधावल्लभ त्रिपाठी ने अभिनव काव्यालंकार सूत्र (2005) में रस, रीति, गुण, वृत्ति, ध्वनि आदि सभी घटकों को अलंकार कहते हुए उसे शब्दार्थ तक सीमित न करते हुए प्रबन्ध स्तर तक व्यापक माना है। 2006 में प्रकाशित अभिराजयशोभूषण में अभिराज राजेन्द्रमिश्र ने अर्वाचीन काव्यशास्त्रियों द्वारा ध्वनि के स्थान को विस्थापित करने के प्रयत्न का खण्डन करते हुए उसे पुनःप्रतिष्ठित किया। हर्षदेव माधव का वागीश्वरी कण्ठसूत्र (2011) काव्यचिन्तन को मैत्री, मुदिता, करुणा, उपेक्षा जैसे चार वासनाओं के आलोक में रखता है। लक्ष्मीनारायण भट्ट की साहित्यवल्लरी भी काव्यशास्त्र का नवीन ग्रन्थ है। रहसबिहारी द्विवेदी की नव्यकाव्य तत्त्वमीमांसा की कारिकाएँ उनके लेखों में प्रकाशित हुई। 2018 में चित्रकवि शतावधानी रा. गणेश (1960–) वर्णनेतिवृत्तमीमांसा लिखा है। इसमें उन्होंने इतिवृत्त व वर्णन की एक–दूसरे से अनुरूपता पर जोर दिया है। अर्वाचीन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

काव्यशास्त्र में कविता सम्बन्धी नये पश्चिमी वादों तथा नयी काव्यविधाओं की चर्चाएँ विशेष रूप से समाविष्ट हुई हैं।

काशी के दुःखभंजन शुक्ल ने वाग्वल्लभः नामक छन्द शास्त्र संस्कृत में लिखा। उनके पुत्र देवीप्रसाद शुक्ल जो सुप्रभातम् पत्रिका के सम्पादक भी थे, ने इस पर वरवर्णिनी नामक टीका लिखी। इस ग्रन्थ में हिन्दी, ब्रजभाषा आदि के अनेक क्षेत्रीय छन्दों के लक्षण तथा उदाहरण देकर उनका संस्कृतीकरण किया है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन 1933 ई. में बनारस से हरिकृष्णदास गुप्त ने किया था। पण्डित मधुसूदन ओझा (1866–1939) ने छन्दों के सूक्ष्म विवेचन पर आधारित अपने ग्रन्थ छनदः समीक्षा में अनेक नवीन रीतियों का आश्रय लिया है। इसमें प्रमुख नवीनता यह है कि उन्होंने संस्कृत वृत्तों का लक्षण देते हुए पारम्परिक लक्षण ग्रन्थों के विपरीत वर्णगणों के अतिरिक्त मात्रा गणों का उपयोग भी किया है। उनका यह उपक्रम केवल लक्षणों को सूत्रात्मक रूप से संक्षिप्त करना मात्र ही नही है। अपितु इसके द्वारा उन्होंने संस्कृत छन्दःशास्त्र की युगों से चली आ रही अल्पताओं को दूर करने का प्रयास भी किया है।[160] अभिराजराजेन्द्र मिश्र का ग्रन्थ छन्दोऽभिराजीयम् 2021 में राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान से प्रकाशित होकर आया है। सेडियाप्पु कृष्णभट्ट ने पिछली शताब्दी में कन्नड भाषा में संस्कृत के छन्दों के रहस्य का निरूपण करने वाला अपूर्व ग्रन्थ छन्दोगति लिखा है। इस ग्रन्थ को शतावधानी रा. गणेश ने छन्दशास्त्र के सूक्ष्म विवेचन में ध्वन्यालोक की कोटि का माना है। इसका संस्कृत अनुवाद बेंगलूरु के बी. एन. शशिकिरण ने 2021 में किया है। यह ग्रन्थ कुवेम्पु भाषा भारती (कर्नाटक सरकार) से शीघ्र प्रकाश्य है।

शिक्षण प्रविधि –

संस्कृत सिखाने की प्रविधियों में हुए प्रभूत नवाचारों को अर्वाचीन युग में हुआ एक महत्त्वपूर्ण विकास कहा जा सकता है। वैसे तो पिछले दो हजार वर्षों का सांस्कृतिक इतिहास ही संस्कृत को सरलता से सीखने के लिए प्रविधियों को खोजने के इतिहास के रूप में देखा जा सकता है। पाणिनि के बाद बने विविध व्याकरण तथा शास्त्र काव्य इसके प्रमाण हैं। लेकिन आधुनिक काल में इस प्रवृत्ति में बहुत वृद्धि हुई। वस्तुतः नवजागरण तथा स्वतन्त्रता आन्दोलन के समानान्तर संस्कृत के प्रति बहुत सारे लोगों की रुचियाँ जगीं। लोगों में यह एक सामान्य समझ रही है कि संस्कृति तथा इसकी ज्ञान परम्परा को जानने के लिए संस्कृत का अध्ययन आवश्यक है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अस्तु जनसामान्य के संस्कृत सीखने की ललक को पूरा करने के लिए स्वदेशी तथा विदेशी अनेक विद्वानों ने संस्कृत सीखने के लिए ग्रन्थ लिखे। इन ग्रन्थों के माध्यम से अनगिनत लोगों ने संस्कृत सीखे। इस क्रम में तारानाथ तर्कवाचस्पति (आशुबोध व्याकरण, वाक्यमञ्जरी), जीवानन्द विद्यासागर (संस्कृतशिक्षामंजरी–4 भाग), स्वामी दयानन्द सरस्वती (संस्कृत वाक्य प्रबोध), ईश्वरचन्द्र विद्यासागर (संस्कृत ब्याकरणेर उपक्रमणिका), रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर (First/ Second book of Sanskrit), वामनशिवराम आप्टे (1818–1892) Student Guide to Sanskrit Composition, कमलाशंकर त्रिवेदी (संस्कृत टीचर–2 भाग) श्रीपाद दामोदर सातवळेकर (संस्कृतस्वयंशिक्षक), राहुल सांकृत्यायन (संस्कृतपाठमाला–5 भाग), के प्रयत्न श्लाघनीय हैं। इनके अतिरिक्त पाश्चात्त्य विद्वानों ने संस्कृत सीखने के लिए बड़े पैमाने पर प्रारम्भिक पुस्तकें लिखीं जिसमें चार्ल्स रॉकवेल लैनमैन, जे. आर. बैलेंटाइन, ई.डी. पेरी, व्हिटनी आदि प्रमुख हैं। वर्तमान काल में भी इस विषय पर बहुत सारी पुस्तकें लिखी जा रही हैं। इन पाठमालाओं से अनगिनत लोगों ने संस्कृत सीखा। यह काम अब और भी तीव्र हो गया है। संस्कृत भारती, लोकभाषा प्रचार समिति, सार्वभौम संस्कृत प्रचार संस्थान आदि अनेक संस्थाओं ने इस क्षेत्र में अभूतपूर्व नवाचार किया है।

धर्मानन्द कोसांबी (1876–1947) तथा राहुल सांकृत्यायन (1893–1963) ने पालि तथा बौद्ध अध्ययन को पुनरुज्जीवित करने के लिए महान् कार्य किये। नव नालन्दा महाविहार से भिक्षु जगदीश कश्यप (1908–1976) ने त्रिपिटकों का उद्धार किया। उन्नीसवीं सदी में पण्डित परम्परा में एक नवाचार क्रोडपत्र लेखन के रूप में सामने आया। मिथिला तथा दक्षिण के पण्डितों में इसका विशेष प्रचलन हुआ। क्रोडपत्र पुरानी पोथियों के हाशिये पर योग्य पण्डितों द्वारा लिखी गयी टिप्पणियाँ हैं। अलग से टिप्पणियों के रूप में भी क्रोडपत्र निर्मित हुए।[161]

4. वर्तमान काल में भारतीय ज्ञान परम्परा के पुनरुत्थान के महत्त्वपूर्ण आयाम

4.1. संस्कृत की सामग्री का लोकभाषाओं में रूपान्तरण :– भारत में प्राचीन काल से ही लोकभाषाओं तथा संस्कृत का परस्पर पोष्यपोषक भाव सम्बन्ध रहा है। यह सम्बन्ध भाषा तथा साहित्य दोनों स्तरों पर देखने को मिलता है। दोनों भाषिक परम्पराओं द्वारा समान सांस्कृतिक चेतना के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संवहन का दायित्व निभाया गया। पुराने समय से ही एक दूसरे के साहित्य एक दूसरे में रूपान्तरित होते रहे हैं। एक शिष्ट योजक भाषा (संस्कृत) के साथ भारतवर्ष में बोलचाल और साहित्य के स्तर पर लोकभाषाएँ हमेशा से रही हैं। इसलिए कुछ लोगों का यह कहना कि अन्यान्य देशों की भाँति भारत में क्षेत्रीय भाषाओं का उदय ईसा की प्रथम सहस्राब्दी के बाद का है (Pollock 2007), ग्राह्य नहीं है। प्राचीन काल में लोकभाषाओं की बहुत सारी सामग्री रूपान्तरित होकर संस्कृत में आयी। कथासरित्सागर, बृहत्कथामञ्जरी, धूर्ताख्यान, कुवलयमालाकथा आदि ग्रन्थ मूलतः प्राकृत में थे जिन्हें संस्कृत ने आत्मसात् किया।[162] इनमें से कुछ तो अब केवल संस्कृत में ही विद्यमान हैं। संस्कृत की ग्राह्यता के कारण इन ग्रन्थों की सुरक्षा हुई। इसी तरह बाद में संस्कृत की सामग्री का भी लोकभाषाओं में रूपान्तरण होता रहा।

संस्कृत भारत के किसी एक क्षेत्र विशेष तक सीमित भाषा नहीं रही। वह देश के सभी क्षेत्रों में व्याप्त भाषा थी। संस्कृत के रचनाकार निश्चित रूप से किसी न किसी क्षेत्र विशेष से सम्बद्ध होते थे। इस कारण क्षेत्रीय भाषाओं की संवेदनाएं संस्कृत साहित्य में आ जाया करती थीं। जैसे ही क्षेत्रीय सामग्री संस्कृत में आती थी वैसे ही (संस्कृत में रचित होने के कारण) उसका प्रसार अखिल भारतीय स्तर पर हो जाया करता था। इस अद्भुत प्रक्रिया द्वारा छोटे से छोटे स्थान की सामग्री समस्त बृहत्तर भारत में फैल जाया करती थी। फिर भिन्न–भिन्न क्षेत्र के लोग संस्कृत की सामग्री (जो मूलतः क्षेत्रीय सामग्री ही होती थी) को अपनी भाषा में प्रसारित करते थे। यह प्रक्रिया शताब्दियों तक निरन्तर चलती रही थी। फलतः समस्त भारत में समान प्रकार की सघन भावात्मक एकता व्याप्त हो गई थी। यह एकता विभिन्न साहित्यिक कृतियों, विधाओं, सूक्तियों, मुहावरों आदि के माध्यम से देखा जा सकती है। पूरे भारत में इस तरह की भावात्मक सघनता का बहुत बड़ा कारण भाषाओं की यह पारस्परिकता थी जिसमें संस्कृत ने केन्द्रीय भूमिका निभाई थी। यह भावात्मक सघनता भारतीय संस्कृति का मूल स्वरूप है। इसी ने भारतवर्ष को भौगोलिक, भाषिक, जातीय विविधताओं के बावजूद एक किये रखा है।

अर्वाचीन काल में क्षेत्रीय भाषाओं के उन्नायक तथा उसके व्याकरणकार प्रायः संस्कृतज्ञ रहे हैं। हिन्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी, बाँग्ला में मृत्युंजय विद्यालंकार, ईश्वरचन्द्र

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विद्यासागर, मलयालम में 'केरलपाणिनि' राजराज वर्मा (1863–1918) मराठी में मराठी के पाणिनि के रूप में ख्यात दादोबा पांडुरंग तर्खडकर (1819–1882) इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। इसलिए यह सोचना और कहना मूर्खतापूर्ण होगा कि क्षेत्रीय भाषाओं का उत्थान संस्कृत संबन्धी अज्ञान अथवा उसके प्रति ईर्ष्या के कारण हुआ।[163] वस्तुतः संस्कृत और क्षेत्रीय भाषाओं का विद्वत्समूह हमेशा से एक रहा है। संस्कृत के पण्डित क्षेत्रीय भाषाओं में आपादमस्तक निमग्न रहते थे। क्षेत्रीय भाषाओं के प्रति हीन भावना देखी नहीं गयी है। क्षेत्रीय भाषाओं के व्याकरणों का निर्माण और उसमें साहित्य संवर्धन प्रायः संस्कृत के विद्वानों द्वारा संस्कृत के पुराने साहित्य के देशीकरण के माध्यम से हुआ। यह काम बहुत पहले से चला आ रहा था। प्राकृत के बहुत से ग्रन्थ संस्कृत में लाकर सुरक्षित तथा प्रचलित किये गये। इसलिए अर्वाचीन काल में क्षेत्रीय भाषाओं तथा साहित्यों के उन्नयन को संस्कृत के क्षय के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए।[164] और इस परिघटना को भारतीय ज्ञान परम्परा की क्षीणता के रूप में तो बिलकुल नहीं देखा जा सकता।

ध्यातव्य है कि यह संस्कृत की ज्ञान सम्पदा (जो वस्तुतः भारत की विविध क्षेत्रीय भाषाओं की भावनाओं का समेकित रूप था) का रूपान्तरण अनुवाद के रूप में नहीं हुआ जैसा कि पश्चिमी विद्वान् अपने चश्मे से देखते हैं[165], बल्कि ये रूपान्तरण एक तरह से पुनर्रचनाएँ थीं। अनुवाद के बाजाए भारत में रूपान्तरण की प्रमुखता होने का कारण था संस्कृत की सर्वदा उपस्थिति। लोक में उसका पठन पाठन अविच्छिन्न रूप से होता था। उसका शब्दानुवाद करके कोई अतिरिक्त लाभ नहीं होना था। प्राचीन तथा अविच्छिन्न भारतीय भाषिक परम्परा में संस्कृत पालि के साथ भी है और प्राकृत के साथ भी। कहीं हम संस्कृत को अपभ्रंश के साथ देखते हैं तो कहीं अवधी, ब्रज अथवा भोजपुरी के साथ। इस प्रकार भारतवर्ष की भाषिक परम्परा को अखण्डतया देखने से हमें स्पष्ट होता है कि संस्कृत तथा देशज लोक भाषाएँ हमेशा से भाषिक अन्तर्धारा के रूप में विद्यमान रहीं तथा एक दूसरे का पोषण करती रहीं। अर्वाचीन काल की प्रसिद्ध उक्ति – संसकिरत है कूपजल भाखा बहता नीर[166] में प्राप्त रूपक द्वारा, तथा तुलसीदास के प्रसिद्ध कथन – भाखा का संसकिरत प्रेम चाहिए सांच[167] भी इसे प्रमाणित करती है। ऐसा होने से, संस्कृत ग्रन्थों के शब्दशः अनुवाद से कुछ अतिरिक्त सिद्ध होने जैसा नहीं था। हाँ, संस्कृत ग्रन्थों पर टीकाएँ अवश्य लिखी जाती

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रहीं ताकि उसे मूल में समझा जा सके। भारतीय ज्ञान परम्परा में हर नया रूपान्तरित ग्रन्थ युगीन सन्दर्भों और कालिक आवश्यकताओं से संवलित होकर उसकी ताजी प्रस्तुति की तरह होता है। रामायण, महाभारत स्वयं संस्कृत के अन्तर्गत ही विकसनशील ग्रन्थ हैं, उनके रूपान्तरणों की नवीनता के बारे में तो कहना ही क्या।[168] तुलसीदास का रामचरितमानस अपने काल तक रामायण के हुए सभी विकासों का संवलित रूप है। इसमें धार्मिक ग्रन्थ, काव्यात्मक ग्रन्थ[169], लोक मान्यताएँ सभी अंशतः सम्मिलित हैं।[170]

इतिहास तथा संस्कृति को लेकर भारतीय दृष्टि अखण्ड है। भारतीय अपने ग्रन्थों को सुदूर अतीत में ठहरा हुआ नहीं मानते। इतिहास और संस्कृति तो अपने काल में स्थित होते हुए भी हममें साँस लेते हैं। इस कारण वे दोनों वर्तमान के सरोकारों के साथ अनिवार्यतः सम्बद्ध होते हैं। इस प्रक्रिया में भारतीय ग्रन्थ विशेष देश या विशेष काल की परिधि का अतिक्रमण करते हैं। यह सार्वदेशीकीकरण और सार्वकालिकीकरण ग्रन्थों के शब्दानुवादों के माध्यम से सम्भव नहीं होता। उसके लिए तो उनके सांस्कृतिक रूपान्तरण अथवा आत्मसात्करण की आवश्यकता होती है। संस्कृति की अखण्डता और विकासशीलता के कारण हमारे ग्रन्थ नदियों की भाँति अपने उद्‌गम की अपेक्षा क्रमशः बृहत् से बृहत्तर और अधिकाधिक समावेशी होते चलते हैं। ईसा से लगभग 2000 साल पहले कभी कुरुक्षेत्र में घटित हुई गीता पर जब 13 वीं सदी में सन्त ज्ञानेश्वर भाष्य लिखते हैं तब वह इसे अपने समय और अपने क्षेत्र में घटित मानकर लिखते हैं। तभी तो ज्ञानेश्वरी में अर्जुन श्रीकृष्ण से कहते हैं – "आपकी उलझी भाषा मुझे समझ में नहीं आ रही। आप मुझे सरल मराठी में इसे समझाइये।"[171] यह गीता अथवा ये अर्जुन–कृष्ण 5000 साल पहले के कुरुक्षेत्र के होने के साथ साथ 13वीं सदी के महाराष्ट्र के भी हैं। यह ग्रन्थ संस्कृत की आत्मा को साथ लिए मध्यकालीन मराठी की संवेदनाओं से भी परिपूर्ण है। कुछ लोगों ने इन ग्रन्थों में संस्कृत की सामग्री से विचलन कितना है केवल इस बात को प्रमुख माना है।[172] वास्तविकता यह है कि स्वयं इन ग्रन्थों के रूपान्तरकार संस्कृत से दूर नहीं जाना चाहते। उनकी विशिष्टता यह है कि वे संस्कृत की सामग्री को पूरी तरह से सुबोध रीति से प्रस्तुत कर रहे हैं, ताकि सिद्धान्त ठीक ठीक समझ में आ सकें जो भाषा की दूरी के कारण कठिन होता जा रहा है। ज्ञानेश्वरी के 11 वें अध्याय में ज्ञानेश्वर इस बात को सुन्दर उपमा के साथ

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्पष्ट करते हैं। वे कहते हैं कि "भगवद्गीता रूपी तीर्थ में अवगाहन कठिन हो गया था, क्योंकि घाट संस्कृत का था, इसलिए मेरे गुरु निवृत्तिनाथ ने मेरे माध्यम से उसमें थोड़ा परिवर्तन करके मराठी भाषा की पैड़ियों का घाट बनवा दिया"।[173] यह उपमा बड़े महत्त्व की है। यह ध्यान रखना चाहिए कि नदी में नहाने की सुविधा के लिए पैड़ियाँ बनवानी हों तो किनारे की जमीन को तोड़ा नहीं जाता बल्कि उसी का आधार लेकर, कुछ सामग्री और जोड़कर उसका निर्माण किया जाता है। संस्कृत भाषा से लोकभाषा में हुए रूपान्तर भी उसके विपरीत या उसके विरोध में नहीं हुए थे बल्कि उसका पूर्णतः आधार लेकर उसे सुगमतर और सांस्कृतिक रूप से समृद्धतर बनाने के लिए किये गये थे।

अर्वाचीन शताब्दियों में संस्कृत के बहुत से ग्रन्थ लोकभाषाओं में रूपान्तरित हुए। ऐसे रूपान्तरणों द्वारा भारतीय ज्ञान सम्पदा का लोक में और अधिक गहन अनुप्रवेश हो सका। इस अनुप्रवेश के नाते भारतीय संस्कृति को बल मिला। इन ग्रन्थों में धार्मिक पुस्तकें तो हैं ही साथ ही साथ काव्यात्मक विधाओं के बहुत से ग्रन्थ स्थानीय संवेदनाओं और पारम्परिक विकास से संवलित होकर स्थानीय भाषाओं के अन्तर्गत रूपान्तरित हुई हैं। उपनिवेश काल में अंग्रेजी के अतिप्रभाव के कारण संस्कृत शिक्षण की दुरवस्था हुई और इसी के बाद संस्कृत ग्रन्थों के अनुवादों का सघन दौर प्रारम्भ हुआ। पिछली शताब्दी में यह काम हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में गीताप्रेस, खेमराज श्रीकृष्ण दास, बेलवीडियर प्रेस, चौखम्बा संस्कृत सिरीज तथा रामकृष्ण मठ आदि संस्थाओं के माध्यम से हुआ।

आधुनिक काल में रूपान्तरण का यह कार्य लोकभाषाओं की ओर से संस्कृत भाषा में भी हुआ। इन कार्यों को दो भागों में बाँट सकते हैं। पहले प्रकार के अनुवाद वे थे जो बहुत पहले स्वयं संस्कृत से लोकभाषाओं में रूपान्तरित और अपने क्षेत्रों में अत्यन्त प्रसिद्ध हो गये थे। उन्हें फिर से संस्कृत में लाया गया। दूसरे प्रकार के अनुवाद वे थे जो नये सिरे से संस्कृत में रूपान्तरित हुए, जिनका मूल संस्कृत में ग्रन्थों के रूप में नहीं था। लोकभाषाओं के महनीय ग्रन्थों के संस्कृत–अनुवाद के पीछे अनुवादकों की मनीषा यह रही कि इन ग्रन्थों में आये ज्ञान के नवीन विकास को सभी लोगों तक पहुँचाया जाये।[174] मूल संस्कृत के ज्ञान ग्रन्थों के लोकभाषाओं में जो अवतार हुए उन्हें फिर से संस्कृत में पहुँचाने से साहित्य के रूपान्तरण का एक वृत्त पूरा हो जाता है। संस्कृत रूपान्तरणों से दो बातें सिद्ध होती हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पहली यह कि पहले स्तर पर मूल संस्कृत से लोकभाषाओं में जिन ग्रन्थों का रूपान्तरण हुआ था वे केवल शब्दशः अथवा भावशः अनुवादमात्र नहीं थे, बल्कि सांस्कृतिक पुनर्निर्मिति थे। यदि वे ग्रन्थ केवल अनुवाद ही होते तो उनके पुनः संस्कृतीकरण का कोई तात्पर्य नहीं होता। दूसरी बात यह कि विद्वान् इस शताब्दी में भी संस्कृत की इस क्षमता से परिचित थे कि संस्कृत में अनूदित होने से लोकभाषाओं की सामग्री पूरे भारत के लिए सुलभ हो जायेगी। 13 वीं शताब्दी के महान सन्त ज्ञानेश्वर द्वारा रचित गीता के मराठी काव्यात्मक भाष्य (ज्ञानेश्वरी) का संस्कृत अनुवाद पुणे के संस्कृत अध्यापक महादेव पाण्डुरंग ओक ने किया। छह अध्यायों वाले इसके प्रथम खण्ड का अनुवाद 1929 में स्वयं लेखक द्वारा पुणे से प्रकाशित हुआ था। श्रीरामचरितमानस का संस्कृत पद्यानुवाद पं. प्रेमनारायण द्विवेदी (1922–2006) ने 1977 में पूरा किया जिसका प्रकाशन 2005 में हुआ।

अनेक ऐसे ग्रन्थ भी संस्कृत में अनूदित किये गये जिनके मूल संस्कृत ग्रन्थ नहीं हैं। इस प्रकार के ग्रन्थों की संख्या बहुत अधिक है, फिर भी कुछ ग्रन्थों की सूचना यहाँ दी जा रही है।[175] केवल तिरुक्कुरळ का संस्कृत अनुवाद श्री एस.एन. श्रीरामदेशिकन् ने 1961 में प्रकाशित किया। श्रीरामदेशिकन् ने शिलप्पदिगारम्, तिरुप्पावै, कम्बरामायणम्, नालादियार, एट्टुतोगै, पट्टुपाट्टु आदि प्राचीन तमिल ग्रन्थों का भी संस्कृत में अनुवाद किया।[176] कुरलकाव्य के नाम से तिरुक्कुरळ का ही अनुवाद गोविन्द जैन शास्त्री ने भी किया। मिर्जा गालिब के उर्दू दीवान के कम से कम दो अनुवाद उपलब्ध हैं। जगन्नाथ पाठक ने आर्या छन्दों में बहुत ही सुन्दर अनुवाद गालिबकाव्यम् के नाम से किया है। परमान्द शास्त्री (1926–2007) के अनुवाद का नाम है – आनन्दगालिबीयम्। तुकाराम के चयनित अभंगों का अनुवाद तुका वक्ति के नाम से ग. बा. पळसुले ने किया। मैथिलीशरण गुप्त के पंचवटी का अनुवाद राधावल्लभ त्रिपाठी ने किया। मिर्जा हादी रुस्वा के उपन्यास उमराव जान अदा का अनुवाद श्वेतकेतु ने सन् 2016 में किया।[177]

4.2. विविध पुस्तकालय, शोधसंस्थाएँ तथा उनके द्वारा पाण्डुलिपियों का सूचीकरण :–

भारतीय ज्ञान परम्परा की मूर्तिमान् प्रतीक है भारत की पाण्डुलिपि सम्पदा। एक आकलन के अनुसार भारत में एक करोड़ पाण्डुलिपियाँ विद्यमान हैं, जो विश्व के किसी भी देश की पाण्डुलिपि सम्पत्ति की अपेक्षा बहुत अधिक है।[178] पिछली शताब्दियों में सरकारी तथा व्यक्तिगत प्रयासों से

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

देश के विविध भागों में पाण्डुलिपि संग्रहों की स्थापनाएँ हुईं। इनमें से अनेक देसी रियासतों के अधीन थीं। देश के स्वतन्त्र होने के बाद ये राज्य सरकारों अथवा केन्द्र सरकार के अधीन हुईं। बाद में बहुतों को निकटतम विश्व विद्यालयों से सम्बद्ध कर दिया गया। इनमें बड़ौदा, मैसूर, तिरुअनन्तपुरम्, तंजौर, वाराणसी, दरभंगा आदि प्रमुख हैं। भण्डारकर प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान (29000 पाण्डुलिपियाँ) तथा एशियाटिक सोसायटी जैसे कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थागार अभी भी हैं जिनमें प्रचुर ग्रन्थराशि विद्यमान है। प्रायः सभी ग्रन्थागारों ने अपने यहाँ विद्यमान पोथियों की सूचना के लिए विवरणात्मक सूचीपत्र प्रकाशित किये। इससे भारतीय ज्ञान परम्परा की बहुत सी विस्मृत सामग्री सामने आयी। ग्रन्थागारों का आलोडन करते हुए उसके ग्रन्थों की सूची बनाने के इस काम ने भारतीय ज्ञान परम्परा की निधि का पुनरुद्घाटन किया। आगे केवल कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थगारों तथा उनकी सूचियों की चर्चा की जा रही है।[179]

वाराणसी में गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज (जिसे पहले बनारस पाठशाला कहा जाता था) के एक अंग के रूप में सरस्वती भवन पुस्तकालय 1791 से कार्यरत रहा। कालक्रम से इसके अन्तर्गत पाण्डुलिपियों की संख्या बढ़ती गयी और साथ साथ सूचियाँ भी बनती गयीं। धीरे धीरे पाण्डुलिपियाँ बहुत अधिक होती गयीं और सूचियाँ अनद्यतन रहती गयीं। इसलिए 1940 में इसका नये सिरे से सूचीकरण का कार्य हुआ। 1791 से लेकर 1950 तक प्राप्त पाण्डुलिपियों की सूचियों का प्रकाशन 12 खण्डों में। Descriptive Catalogue of the Sanskrit Manuscripts नाम से कराया गया। इसके 12 वें खण्ड में 13 विविध विषयों के 2650 ग्रन्थ सूचीकृत हैं। वर्तमान में इस पुस्तकालय में संस्कृत की लगभग एक लाख पाण्डुलिपियाँ संगृहीत हैं।[180]

राजेन्द्रलाल मित्र (1822–1891) ने बंगाल सरकार के आदेश पर Notices of Sanskrit नाम से कई भागों में सूची तैयार की जिसे कोलकाता में बैप्टिस्ट मिशन प्रेस में 1874 में प्रकाशित किया गया। इसके अगले भागों का सम्पादन हरप्रसाद शास्त्री (1853–1931) ने किया। उन्होंने पाण्डुलिपियों की खोज में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। बाँग्ला भाषा के प्राचीनतम नमूने वाली पाण्डुलिपि चर्यागीति उन्होंने ही खोज निकाली थी। उन्होंने कुछ अन्य लोगों (चिन्ताहरण चक्रवर्ती आदि) की सहायता से एशियाटिक सोसायटी की सूची भी तैयार की जिसमें 10,000 पाण्डुलिपियाँ शामिल थीं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तंजौर का महाराजा सर्फोजी सरस्वती महल पुस्तकालय 16वीं शताब्दी में तेलुगु नायक राजाओं के समय में प्रारम्भ हुआ जिन्होंने तेलुगु लिपि में लिखी संस्कृत पाण्डुलिपियाँ एकत्र की थीं। 17वीं सदी में मराठाओं के अधीन हो जाने के बाद इस पुस्तकालय का निरन्तर विकास हुआ। इसकी सर्वाधिक समृद्धि तंजौर के महाराजा सर्फोजी (1777–1832) के काशी प्रवास (1820–1830) के दौरान हुई। इसके सार्वजनिक सम्पत्ति घोषित हो जाने के बाद बहुत से व्यक्तिगत पुस्तक संग्रह भी इसे प्राप्त हुए। इस पुस्तकालय में लगभग 49000 पाण्डुलिपियाँ है जिनमें से अधिकतर संस्कृत की ही हैं। संस्कृत के ग्रन्थों को 21 विषयों में विभाजित किया गया है। 1928 से 1931 तक इसके 13 खण्ड। Descriptive Catalogue of Sanskrit Manuscripts in the Tanjore Maharaja Sarfoji*s Saraswati Mahal Library के नाम से निकल चुके थे। इसके खण्डों का सम्पादन पी. पी.एस. शास्त्री ने किया है।[181] आड्यार पुस्तकालय, मद्रास की पाण्डुलिपियों की वर्णानुक्रम सूची सी. कुन्हन राजा के निरीक्षण में वी. कृष्णमाचार्य, के. रामचन्द्रशर्मा तथा के. माधव कृष्ण शर्मा के संयुक्त प्रयास से निर्मित हुई। इसका प्रकाशन आड्यार पुस्तकालय से 1944 में Alphabetical Index of Sanskrit Manuscripts in the Adyar Library नाम से हुआ।[182] इसकी सूची 13 भागों में डिस्क्रिप्टिव कैटलॉग आफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स के नाम से अलग से प्रकाशित हुई है। मैसूर के ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट से संस्कृत की पाण्डुलिपियों को Descriptive Catalogue of Sanskrit Manuscripts के नाम से 17 भागों में प्रकाशित किया गया। इसके अन्तर्गत 65,000 पाण्डुलिपियों की सूचनाएँ एकत्रित हैं। वेद से सम्बद्ध इसका पहला खण्ड 1937 में एम.एस. बसवलिंगय्या के सम्पादन में प्रकाशित हुआ जबकि तन्त्र–मन्त्र शास्त्र से सम्बद्ध 17वाँ खण्ड का सम्पादन करके के. राजगोपालाचार ने 1990 में प्रकाशित किया।[183]

1910 ई. में पुणे में भारत इतिहास संशोधक मण्डल की स्थापना हुई। इसका लक्ष्य था भारत के सर्वांगपूर्ण इतिहास के उपकरणों को जुटाना तथा उसका संरक्षण करना। इसके ग्रन्थागार में लोगों के द्वारा स्वेच्छा से दिये गये ग्रन्थों का संग्रह किया गया। इसमें संस्कृत, मराठी तथा फारसी आदि के ग्रन्थ 40 वर्गों में विभाजित हैं। इन सूचियों की अनुक्रमणिका का प्रकाशन 1960 में गणेश हरि खरे के सम्पादन में भारत–इतिहास–

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मण्डलस्थ– हस्तलिखित ग्रन्थानुक्रमणिका के नाम से हुआ।[184] वर्तमान में यहाँ 27000 पाण्डुलिपियाँ हैं। भण्डारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट में विद्यमान पाण्डुलिपियों के 18 भागों का प्रकाशन 1910 से लेकर 1948 तक पूरा हो गया था। इसके अलग अलग खण्डों का सम्पादन जिन विभिन्न विद्वानों ने किया था उसमें से हैं – एस.के. बेलवल्कर (व्याकरण), एस.एम. कत्रे (वेदान्त), हीरालाल कापड़िया (जैनागम, प्राकृत), आदि। बड़ौदा के केन्द्रीय पुस्तकालय के सूचीपत्र का प्रथम (वेदसम्बद्ध खण्ड) 1925 में गजानन के. शिरगाँवकर तथा के. एस. रामस्वामी शास्त्री शिरोमणि के संयुक्त प्रयास से हो सका था।

मुनि जिनविजय (1888–1976) ने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, गुजराती और राजस्थानी की कई प्राचीन कृतियों के अन्वेषण, पाठालोचन और सम्पादन किये। ये ग्रन्थ सिंघी जैन ग्रन्थमाला और राजस्थान पुरातन ग्रन्थमालाओं के अन्तर्गत प्रकाशित हुए। इनमें से प्रबन्ध चिन्तामणि, धूर्ताख्यान, सन्देशरासक, पउमचरिउ, कुवलयमाला, बृहत्कथाकोश आदि प्रमुख हैं।[185] उन्होंने राजस्थान प्राच्य संशोधन संस्थान, जोधपुर से। Catalogue of Sanskrit and Prakrit Manuscripts के अनेक खण्डों का सम्पादन तथा प्रकाशन कराया। इसका दूसरा खण्ड 1964, 1965 में तीन खण्डों में प्रकाशित हुआ जिसमें कुल 7508 पाण्डुलियों का विवरण है। इस ग्रन्थागार में 48000 पाण्डुलिपियाँ हैं। लालचन्द्र भगवानदास गाँधी ने पाटन के जैन भण्डारों की सूची निर्मित की। इसका पहला खण्ड 1937 में ओरियंटल इंस्टीस्ट्यूट, बड़ौदा से प्रकाशित हुआ। इससे प्राकृत तथा जैनागमों की महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रकट हो सकी। डेक्कन कॉलेज पुणे की पाण्डुलियों की सूची का पहला खण्ड 1916 में प्रकाशित गवर्नमेंट आफ मुम्बई के द्वारा प्रकाशित हुआ। कीलहॉर्न और ब्यूल्हर के प्रयासों से जुटाये गये इस ग्रन्थागार की सूची डेक्कन कॉलेज के अध्यापकों ने तैयार की थी। संस्कृत कॉलेज कलकत्ता (अब, संस्कृत कॉलेज एंड युनिवर्सिटी– कोलकाता) में विद्यमान पाण्डुलिपियों का दो भागों में विवरण विराजमोहन तर्कतीर्थ तथा जगदीश चन्द्र तर्कतीर्थ द्वारा 1963, 1965 में प्रकाशित किया गया। विश्वेश्वरानन्द संस्थान, होशियारपुर की पाण्डुलिपियों को दो खण्डों में 1965 में विश्वबन्धु के सम्पादकत्व में प्रकाशित किया गया है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इन प्रमुख सूचियों के अतिरिक्त छोटे बड़े पुस्तकालयों ने अपनी सूचियाँ बनायीं हैं। इनमें कुछ हैं— आचार्य श्री कैलाशसूरि ज्ञानमन्दिर, कोबा, गुजरात (पाण्डुलिपि संख्या 2,50000), लालभाई दलपतभाई इंस्टीट्यूट आफ इंडोलोजी, अहमदाबाद (80,000), गंगानाथ झा शोध संस्थान जो अब राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय का प्रयागराज परिसर है (45000), कलकत्ता विश्वविद्यालय (38000), प्राच्य संशोधन संस्थान, वडोदरा (28000), बंगीय साहित्य परिषद् कलकत्ता (22000), (A Descriptive Catalogue of Sanskrit Manuscript in the Private Collection of Raja Harishingh (Ramchandra Kak) Harabhatta Shastri 1927) आदि।

संस्कृत, प्राकृत तथा अन्य क्लासिकल भारतीय भाषाओं के उपर्युक्त ग्रन्थागारों के अतिरिक्त भारत में फारसी, अरबी आदि भाषाओं की पाण्डुलिपियों का विशाल संग्रह भी है। इन ग्रन्थागारों में रामपुर रजा पुस्तकालय (रामपुर, उ.प्र., 18000), खदाबख्श पुस्तकालय (पटना, 28000), सवाई मानसिंह द्वितीय संग्रहालय–जयपुर, मौलाना आजाद अरेबिक–पर्शियन रिसर्च इंस्टीट्यूट–टोंक, नूर माइक्रोफिल्म सेंटर, ईरान सांस्कृतिक भवन, नई दिल्ली आदि प्रमुख हैं।

विविध ग्रन्थागारों की सूचियों के आधार पर विद्वानों ने संग्रहात्मक अथवा विषयवार स्वतन्त्र सूचियाँ बनाने का काम भी किया है। थियोडोर आफ्रेक्ट (1822–1907) ने विविध सूचियों को एकत्रित करके एक विशाल सूची का निर्माण कैटालोगस कैटालोगोरम (1891–1903 के बीच प्रकाशित) के नाम से जर्मन ओरिएंटल सोसायटी के तत्त्वावधान में कराया। इस कार्य को वी. राघवन् (1908–1979) ने मद्रास विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में न्यू कैटालोगस कैटालोगोरम नाम से जारी रखा, जो अभी भी चल रहा है। डेविड पिंग्री अपने Census of the EÛact Sciences in Sanskrit (5 volumes, 1970) खगोलशास्त्र तथा गणित से सम्बन्धित पाण्डुलिपियों की जानकारी देता है। हाल में ही पुणे के आनन्दाश्रम संस्थान ने गणित तथा खगोलशास्त्र से भिन्न वैज्ञानिक सामग्री से सम्बन्धित पाण्डुलिपियों की सूची तैयार की है। इसे 80 पाण्डुलिपि सूचियों के आधार पर बनाया गया है।[186]

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र के अन्तर्गत बहुत से पाण्डुलिपि ग्रन्थागारों की पाण्डुलिपियों की सूचियों को एक साथ रखा गया है तथा उनकी पाण्डुलिपियाँ भी यथासम्भव देखने के लिए स्कैन कर के रख दी गयी हैं। यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य है।[187]

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

4.3. गौरवग्रन्थों का उद्धार एवं पुनःप्रवर्तन :–

पाण्डुलिपि विज्ञान नामक नये अनुशासन के अभ्युदय ने आधुनिक युग में भारतीय ज्ञान परम्परा का महान् उपकार किया है। बहुत से ग्रन्थ जो लुप्त हो जाने के कारण पिछली कई शताब्दियों से अध्ययन–अध्यापन की परम्परा से बाहर हो रहे थे, उनकी खोज हुई। उन्हें फिर से सम्पादित करके प्रकाशित किया गया। उन पर अध्ययन प्रस्तुत किये गये। उन्हें पाठ्यक्रमों में स्थान मिला। इन सब उपक्रमों से भारतीय ज्ञान परम्परा को एक नई स्फूर्ति मिली। ऐसे ही कुछ महनीय ग्रन्थों के समुद्धार का विवरण आगे दिया जा रहा है–।

चारुदेव शास्त्री (1896–1887), गौरीनाथ शास्त्री, को. अ. सुब्रह्मण्य अय्यर (1896–1980 ई.) आधुनिक काल में वाक्यपदीय के अध्ययन को जीवन्त करने वाले आचार्यों में से हैं। उन्होंने वाक्यपदीय का सम्पादन, प्रकाशन तथा अनुवाद किये तथा उस पर अनेक विनिबन्धों को प्रकाशित किया। गौरीनाथ शास्त्री की द फिलासफी आफ वर्ड एंड मीनिंग तथा को. अ. सुब्रह्मण्य अय्यर (1896–1980 ई.) का भर्तृहरि (अ स्टडी आफ द वाक्यपदीय इन द लाइट आफ ऐंशियेंट कॉमेंटेटर्स) ये दोनों पुस्तक वर्तमान युग में भर्तृहरि के अध्ययन की आधारभूत समझ बनाती हैं। रघुनाथ शर्मा ने सम्पूर्ण वाक्यपदीय पर संस्कृत भाषा में पारम्परिक रीति की अम्बाकर्त्री नामक टीका लिख कर भर्तृहरि को समझने योग्य बनाया। वाक्यपदीय की क्षेत्रीय भाषाओं में हो रहे अनुवादों के लिए यह टीका उपजीव्य है। यह 1963 से 1996 के बीच 8 खण्डों में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से प्रकाशित हुई। इस तरह भर्तृहरि के अध्ययन की परम्परा एक बार फिर शताब्दियों बाद जीवित हो उठी। आज भी अशोक अक्लूजकर, मिथिलेश चतुर्वेदी आदि विद्वान् इस ग्रन्थ पर अध्ययन प्रस्तुत करते हुए नवीन दृष्टियों को उजागर करने में लगे हुए हैं।

राजनैतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के कारण नाट्यशास्त्र जैसे महनीय ग्रन्थ का प्रयोग तथा अध्यापन दोनों पिछली सहस्राब्दी में नष्ट हो चुके थे। 1865 में एडवर्ड हाल ने दशरूपक के साथ इसके कुछ अध्याय पहली बार प्रकाशित किये। इसके बाद 1880 में पाल रेनो तथा 1888 में जानं ग्रोसे ने क्रमशः इसके 17वें और 28वाँ अध्याय प्रकाशित करवाया। नाट्यशास्त्र का सम्पूर्ण प्रकाशन 1894 में काव्यमाला श्रृंखला के अन्तर्गत तथा 1929 में हुआ। 40 पाण्डुलिपियों के आधार पर नाट्यशास्त्र का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रामाणिक संस्करण 1926 से 1964 के बीच बड़ौदा से अभिनवभारती टीका के साथ प्रकाशित हुआ। नाट्यशास्त्र की पुनः उपलब्धि के साथ ही इस शताब्दी में कला, रंगमंच, साहित्य से जुड़े लोगों का ध्यान इस ओर गया और नाट्यशास्त्र के महत्त्व को समझा जाने लगा। वर्तमान शताब्दी में कमलेशदत्त त्रिपाठी तथा राधावल्लभ त्रिपाठी नाट्यशास्त्र के प्रयोग तथा अध्ययन दोनों पक्षों को आगे ले चलने वाले महनीय आचार्य हैं।

लगभग 2400 वर्ष पहले लिखी गयी पुस्तक अर्थशास्त्र लगभग 12वीं शताब्दी से लुप्तप्राय हो चुकी थी। 1905 में शामशास्त्री को मैसूर ओरिएंटल पुस्तकालय की पाण्डुलिपियों का सूचीकरण करते हुए इसकी पूरी पाण्डुलिपि प्राप्त हुई। इसे उन्होंने 1909 में प्रकाशित किया। इसका अंग्रेजी अनुवाद 1915 में प्रकाशित हुआ। महामहोपाध्याय टी. गणपतिशास्त्री ने त्रिवेन्द्रम संस्कृत सिरीज से अपनी संस्कृत टीका श्रीमूला के साथ प्रकशित कराया। राजेश्वर शास्त्री द्राविड ने भारतीय अर्थशास्त्र तथा पश्चिमी राजनीतिशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। अर्थशास्त्र पर उनकी वैदिकसिद्धान्तरक्षिणी तथा जयमंगला टीकाएँ मौलिक अवदान कही जा सकती हैं।

राहुल सांकृत्यायन ने बौद्धधर्म की अनेक संस्कृत पुस्तकों को तिब्बत तथा मध्य एशिया से पुनः प्राप्त किया था। इनमें से कुछ ग्रन्थ हैं– ज्ञानश्रीमित्र की योगाचारभूमि, श्रावकभूमि, प्रत्येकबुद्धभूमि, अपोहप्रकरण, ईश्वरदूषण, अद्वैतबिन्दु, अश्वघोष की त्रिदण्डमाला और परिकथा, मैत्रेयनाथ की मध्यान्तविभागकारिका, अभिसमयालंकार आदि आदि।[188] ये ग्रन्थ विदेशी आक्रमणों से बौद्ध धर्म के नष्ट होने के साथ बौद्ध भिक्षुओं द्वारा तिब्बत आदि स्थानों पर ले जाये गये थे और भारत में अनुपलब्ध थे। वर्तमान में सन् 1967 में वाराणसी में केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान की स्थापना हुई। इसके प्रत्यावर्तन विभाग का ध्येय ही है तिब्बती भाषा में विद्यमान भारतीय विज्ञान तथा साहित्य के ग्रन्थों का मूल संस्कृत में पुनः ले आना। विश्वविद्यालय ने अब तक 60 ग्रन्थों को संस्कृत में प्रत्यावर्तित किया है। प्रत्यावर्तन के साथ में इनका अनुवाद तथा आलोचनात्मक संस्करण भी किया गया है।[189]

इसी प्रकार शताब्दियों से लुप्तप्राय अनेक काव्यग्रन्थों के प्रकाशन तथा अध्ययन भी प्रारम्भ हुए। अश्वघोष का बुद्धचरित तथा शारिपुत्रप्रकरण अपूर्ण अवस्था में प्राप्त हुआ। भास के 13 नाटक टी. गणपति शास्त्री को प्राप्त हुए थे। आधुनिक काल में शताब्दियों से लुप्त इन ग्रन्थो के अध्ययन, अध्यापन, शोध की फिर शुरुआत हुई।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

4.4. भारतीय ज्ञान परम्परा का पश्चिमी विद्वानों से सम्पर्क :–

पश्चिमी विद्वानों द्वारा संस्कृत के अध्ययन का क्रम उपनिवेश काल के दौरान शुरू हुआ। यह उपक्रम प्रारम्भ में भारतीय समाज को समझने के लिए हुआ था ताकि भारत भूमि पर अपने उपनिवेश को अधिकाधिक समय तक कायम रखा जा सके। इसी कारण सबसे पहले धर्मशास्त्रीय (कानूनी) ग्रन्थों पर उनका ध्यान गया। अंग्रेजों ने पण्डितों के माध्यम से विवदार्णवसेतु, नव्यधर्मदीपिका (कृपाराम), विवादभङ्गार्णव (जगन्नाथ पण्डित), व्यवहारशतश्लोकी (श्रीधर) आदि ग्रन्थ तैयार कराये जिनका अंग्रेजी अनुवाद भी कराया गया। बाद में अंग्रेज विद्वानों का ध्यान भारतीय विद्या के अन्य क्षेत्रों में लिखे ग्रन्थों पर भी गया। जैसे जैसे उनका इससे परिचय बढ़ा वैसे वैसे उनका आश्चर्य बढ़ता ही गया। फिर तो विदेशी विद्वानों की पूरी पीढ़ी ही संस्कृत तथा अन्य प्राचीन भाषाओं में लिखे गये ग्रन्थों के अध्ययन, सम्पादन, अनुवाद आदि में अध्यवसाय पूर्वक लग गयी। उनके प्रयत्नों से भारतीय ज्ञान परम्परा को बहुत विशेष लाभ यह हुआ कि उसका परिचय पूरे विश्व को होने लगा। सम्पादन आदि की नवीन प्रविधियों तथा प्रकाशन की उत्तम व्यवस्था के कारण भारतीयों को भी ये ग्रन्थ सुलभ होने लगे। विदेशियों के इन शोधों ने भारत के वर्तमान और भविष्य को बदल दिया।[190] उनके अध्ययन के अनिवार्य रूप से तुलनात्मक होने के कारण ज्ञान के क्षेत्र में तुलनात्मक भाषाशास्त्र, तुलनात्मक पुराकथाशास्त्र और तुलनात्मक धर्म आदि नये अनुशासनों का विकास हुआ। यद्यपि उनकी प्रस्तुतियों में औपनिवेशिक पूर्वाग्रह मौजूद थे ही, जिनकी चर्चा ऊपर आ चुकी है। जिन प्रमुख विद्वानों ने इस क्षेत्र में सर्वप्रथम कार्य शुरू किये उनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण नाम हैं – चार्ल्स विल्किंस (गीता का अनुवाद, 1785), सर विलियम जोंस (अभिज्ञानशाकुन्तलम् का अनुवाद 1789), आर्थर वेनिस (मीमांसापरिभाषा तथा वेदान्तमुक्तावली के अनुवाद), म्यूर, ए.एच. विल्सन (मेघदूत का अनुवाद 1814) आदि। मैक्सम्यूलर (1823–1900) ने 1849 से 1875 ई. के मध्य ऋग्वेद के सभी भागों का 4 खण्डों में प्रकाशन किया। इसके बाद उन्होंने सैक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट इस श्रृंखला के अन्तर्गत भारतीय विद्या से सम्बन्धित ग्रन्थों के सम्पादन और अनुवाद का कार्य प्रारम्भ किया। इसके अन्तर्गत भगवद्गीता, धम्मपद, अवेस्ता जैसे 50 ग्रन्थ प्रकाशित हुए। विदेशी विद्वानों ने भारत विद्या के लगभग सभी भागों को उपकृत किया। पाण्डुलिपिविज्ञान, मुद्राशास्त्र, पुरातत्त्वशास्त्र आदि अनेक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुशासन तो ऐसे हैं जिनका परिचय ही उन्होंने कराया। उन्होंने संस्कृत सीखने की पद्धतियाँ विकसित कीं, बड़े–बड़े कोश बनाये, विदेशी विश्वविद्यालयों में भारतीय विद्या से सम्बद्ध विभागों को खोलने में मदद की। रूस, जर्मनी, ब्रिटेन, अमरीका सहित अनेक महाद्वीपों में भारतीयज्ञानपरम्परा के विषयों का अध्यापन होने लगा। इन देशों में अब भी इस प्रकार के अध्ययन जारी हैं।

पाश्चात्त्य अध्येताओं के द्वारा किये जाने वाले इन कार्यों से परतन्त्र भारत, जिसका आत्मसम्मान नष्टप्राय हो चुका था, उसमें एक नयी चेतना आयी और वह अपने खोये हुए आत्मगौरव को पुनः प्राप्त करने के लिए तैयार हो गया। भारत के अनेक जननायक इन पाश्चात्त्य भारतविदों से प्रभावित थे तथा उनके माध्यम से भारत तथा भारतीय धर्म के प्रति प्रेम को पुष्ट करते थे।[191] इस तरह औपनिवेशिक काल में भारतीय विद्या ने पश्चिमी विद्वानों के माध्यम से भारत में अपनी खोती हुई जमीन फिर से प्राप्त की।

4.5. प्रकाशन अभियान :–

छापाखाने का प्रचुर प्रचार नहीं होने तक पुस्तकें अपने पास रख पाना एक विशेषाधिकार हुआ करता था जिसका लाभ सभी लोग नहीं उठा पाते थे। पिछली शताब्दियों में मुद्रणालयों के स्थापित होने का सबसे पहला लाभ जिसे हुआ वह संस्कृत विद्या थी। ये मुद्रणालय सरकारी तथा वैयक्तिक दोनों प्रकार के प्रयासों से लगवाये गये थे। इन मुद्रणालयों से ग्रन्थों की अनेक शृंखलाएँ प्रकाशित हुईं। इस उपक्रम से संस्कृत विद्या का सार्वजनिकीकरण हुआ तथा भारतीय ज्ञान परम्परा में अभूतपूर्व उत्क्रान्ति आयी। सैकड़ों साल पहले प्रकाशित हुए और अब दुर्लभ हो चुके इन ग्रन्थों को हाल के वर्षों में विभिन्न संस्थाओं तथा व्यक्तिगत प्रयासों से स्कैन करके अन्तर्जाल पर उपलब्ध करा दिया गया है, जिससे उन्हें निःशुल्क प्राप्त करना बहुत ही सरल हो चुका है।[192]

बिब्लोथेका इंडिका सिरीज 1849 में रॉयल एशियाटिक सोसायटी द्वारा स्थापित किया गया था। यह भारतविद्या के प्रकाशन की सम्भवतः सबसे प्राचीन शृंखला है। इस सिरीज में भारतविद्या से सम्बन्धित दुर्लभ तथा अप्रकाशित पुस्तकें प्रकाशित हुईं, जिनमें मूलपाठ, अंग्रेजी अनुवाद, व्याकरण, कोश, ग्रन्थसूची तथा अन्य अध्ययन शामिल हैं। संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत, फारसी तथा अन्य भारतीय भाषाओं की पुस्तकें भी इसके अन्तर्गत मुद्रित हुईं। 1953 तक इस शृंखला में कुल 277 पुस्तकें प्रकाशित

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हुई।[193] इसके अन्तर्गत राजेन्द्रलाल मित्र (1822–1891), सत्यव्रत सामश्रमी, सतीशचन्द्र विद्याभूषण (1879–1920), महेशचन्द्र न्यायरत्न (1836–1906), विधुशेखर भट्टाचार्य, हरप्रसाद शास्त्री (1853–1931), गंगानाथ झा (1872–1941), मनमोहन घोष, नलिनाक्ष दत्त (1893–1973), बिमल चरण ला (1892–1969), सुनीति कुमार चौटर्जी (1890–1977) आदि ने अनेक ग्रन्थों का सम्पादन किया था।

19 वीं सदी के अन्त तथा 20 वीं के प्रारम्भ में मुम्बई में स्थित निर्णय सागर प्रेस के माध्यम से काव्यमाला सिरीज की पुस्तकें निकलीं। इस प्रेस की स्थापना जावजी दादाजी चौधरी (1839 के लगभग--1892) ने 1876 में की थी। जिसे उनके बाद उनके पुत्रों तुकाराम जावजी तथा पाण्डुरंग जावजी ने उत्साह तथा परिश्रम से सफलता के शिखर तक पहुँचाया। उन्होंने देवनागरी की सबसे सुन्दर, स्वच्छ तथा सुरुचिपूर्ण 'अखण्ड' नामक टाइप का उपयोग किया, जिसका अब तक कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं हुआ। हाल ही में कुछ तकनीकविदों ने टंकण के लिए निर्णयसागर के अक्षरों की ढलाई पर आधारित फॉण्ट विकसित किया है जिसका नाम आदिशिला है।[194] 1886 में प्रारम्भ की गयी इस सिरीज में मुख्यतः काव्य और काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के विद्वत्तापूर्ण सम्पादन तथा सुरुचिपूर्ण प्रकाशन किये गये। इसमें काव्यमाला सिरीज के अन्तर्गत 95 एकल पुस्तकें तथा काव्यमाला गुच्छक के अन्तर्गत प्राचीन काव्यों के 14 खण्ड प्रकाशित हुए थे।[195] काव्यमाला की इन दो ग्रन्थावलियों के अतिरिक्त भी निर्णयसागर प्रेस से भारतविद्या से सम्बन्धित अनेक अन्य ग्रन्थ प्रकाशित हुए जिसमें वेदान्त, धर्मशास्त्र, कर्मकाण्ड, तथा पुराण प्रमुख हैं। यहाँ से प्रकाशित काव्यमाला सिरीज के ग्रन्थों के विद्वान् सम्पादकों में से – वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर, पण्डित दुर्गादास, काशिनाथ पाण्डुरंग परब, भट्टमथुरानाथ शास्त्री आदि प्रमुख थे। अपने जीवनकाल में जावजी दादाजी ने संस्कृत की 193 पुस्तकें, मराठी की 228 पुस्तकें और हिन्दी गुजराती की 15 पुस्तकें प्रकाशित कीं।[196]

19वीं शताब्दी में वाचस्पत्यम् तथा शब्दकल्पद्रुम नामक दो विश्वकोश संगृहीत तथा प्रकाशित हुए। ये दोनों अनेक भागों में पर्याप्त उद्धरणों और सूक्तियों के साथ तैयार किये गये। शब्दकल्पद्रुम को राजा राधाकान्तदेव के निर्देश पर कई बंगाली विद्वानों ने 5 भागों में सम्पादित किया। वाचस्पत्यम् का संग्रह तथा प्रकाशन तारानाथ तर्कवाचस्पति ने किया। छह भागों में प्रकाशित इस कोश में कुल 5442 पृष्ठ हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

20वीं सदी के प्रारम्भ में टी. गणपतिशास्त्री (1860–1926) के नेतृत्व में त्रिवेन्द्रम पाण्डुलिपि पुस्तकालय के माध्यम से त्रिवेन्द्रम संस्कृत सिरीज (अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थावली) के अन्तर्गत प्राचीन, दुर्लभ तथा अप्रकाशित संस्कृत ग्रन्थों का प्रकाशन कराया गया। 1905 से 1925 के मध्य इस ग्रन्थमाला में लगभग 100 पुस्तकें प्रकाशित हुई। इस श्रृंखला के प्रकाशन का कार्य अभी भी जारी है। महाकवि भास के सभी नाटक इसी ग्रन्थावली के अन्तर्गत प्रकाशित हुए थे। इसके अन्य महत्त्वपूर्ण प्रकाशन हैं मंजुश्रीमूलकल्प, मयमतम्, ईशानशिवगुरुदेवपद्धति, व्यक्तिविवेक, दुर्घटवृत्ति, सिद्धान्तसिद्धांजन, महार्थमञ्जरी, सरस्वतीकण्ठाभरण, प्रक्रिया सर्वस्व आदि।

पुणे की आनन्दाश्रम संस्था की स्थापना महादेव चिमणाजी आप्टे ने 4 नवंबर 1887 को की थी। इसके द्वारा आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली के अन्तर्गत 1888 से लेकर 1942 के मध्य 144 प्राचीन पुस्तकें प्रकाशित की गयीं। इनमें वेद, आरण्यक, ब्राह्मण, उपनिषद्, श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, मीमांसा, पुराण, काव्य तथा व्याकरण आदि सम्मिलित हैं।[197] अब तक संस्था ने कुल 26 विषयों पर 195 खण्ड प्रकाशित किये हैं। संस्था के पास 15000 पाण्डुलिपियाँ भी संरक्षित हैं।[198] श्रीवेंकटेश्वर प्रेस की स्थापना चूरू के दो मारवाड़ी भाइयों गंगाविष्णु तथा खेमराज बजाज ने 1893 में मुम्बई में की थी। इन्होंने संस्कृत तथा हिन्दी की अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तकें प्रकशित कीं। मुरादाबाद के पण्डित ज्वाला प्रसाद की अनेक पुस्तकें यहाँ से प्रकाशित हुई। इनके प्रकाशन अभी भी जारी हैं। चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस की स्थापना हरिदास गुप्त द्वारा 1892 में की गयी थी। इस संस्था से अनेक दुर्लभ पुस्तकों का पहली बार प्रकाशन हुआ। अनेक ग्रन्थमालाओं के साथ अभी तक इसके प्रकाशन का अनवरत इतिहास है। काशीविद्यासुधानिधिः अथवा पण्डित पत्रिका संस्कृत की पहली पत्रिका मानी जाती है। इसका प्रकाशन बनारस संस्कृत कॉलेज की ओर से जून 1866 ई. में प्रारम्भ हुआ था। इसके अन्तर्गत अनेक प्राचीन ग्रन्थ (जैसे, पदमञ्जरी, काव्यप्रदीप, शास्त्रदीपिका, खण्डनखण्डखाद्य, आदि) क्रमशः मुद्रित हुए तथा उनके प्रकाशनों के सम्बन्ध में जनसामान्य को सूचनाएँ दी गयीं। यह पत्रिका 1917 तक प्रकाशित हुई।[199] इसके कुछ भागों का पुनर्मुद्रण सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से पण्डित विद्यानिवास मिश्र के कुलपतित्व में पण्डितपरिक्रमा के नाम से हुआ था।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

गीताप्रेस की स्थापना 1923 में कोलकाता में जयदयाल गोयन्दका जी द्वारा की गयी जो बाद में गोरखपुर स्थानान्तरित हुआ। गीताप्रेस ने भारतीय संस्कृति से सम्बन्धित मुख्यतः धार्मिक ग्रन्थों के सानुवाद शुद्ध सुन्दर संस्करण लागत से भी कम मूल्य पर जनता को उपलब्ध कराये। संस्कृत के ग्रन्थों के संस्करण तथा प्रामाणिक अनुवाद में गीताप्रेस का सहयोग पाण्डेय रामनारायण शास्त्री तथा शान्तनुविहारी द्विवेदी आदि विद्वानों ने किया। बाद के वर्षों में गीताप्रेस की पुस्तकें धार्मिकता का पर्याय ही बन गयीं। बिना किसी आर्थिक सहयोग अथवा विज्ञापन के अब तक (लगभग सौ वर्षों तक) गीताप्रेस द्वारा धार्मिक पुस्तकों को प्रकाशित करने का सबसे लम्बा रिकॉर्ड है। इसके द्वारा विभिन्न संस्करणों में अब तक कुल प्रकाशित पुस्तकों की संख्या 68 करोड़ 28 लाख है। इसके कुल प्रकाशन 1927 हैं जिसमें 877 संस्कृत तथा हिन्दी के हैं और शेष अन्य भारतीय भाषाओं के हैं। संस्था द्वारा कल्याण, युग कल्याण हिन्दी में तथा कल्याण कल्पतरु अंग्रेजी में मासिक पत्रिकाएँ निरन्तर प्रकाशित होती हैं।[200] कश्मीर संस्कृत सिरीज आफ टेक्स्ट एंड स्टडीज के नाम से कश्मीर के महाराजा के निर्देश से प्रकाशित ग्रन्थमाला में कश्मीर शिवाद्वयवाद से सम्बन्धित बहुत सारे ग्रन्थ सामने आये। इसके सम्पादक मण्डल में मधुसूदन कौल शास्त्री, जगदीशचन्द्र चट्टोपाध्याय, हरभट्ट शास्त्री जैसे शैव शास्त्र के महापण्डित सम्मिलित थे। इस ग्रन्थमाला के अन्तर्गत ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी (अभिनवगुप्त, 1943), सिद्धित्रयी (उत्पलदेव,1921), शिवसूत्रविमर्शिनी (क्षेमराज, 1911), तन्त्रालोक (अभिनवगुप्त), प्रत्यभिज्ञाहृदयम् (क्षेमराज, 1911), बोधपंचदशिका, परमार्थचर्चा (अभिनवगुप्त, 1947) आदि अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुए। इनमें से अनेक ग्रन्थों को राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान ने 1991 में पुनर्मुद्रित किया है।

कई विद्वानों ने अकेले अनेक ग्रन्थों के सम्पादन, संशोधन, अनुवाद तथा प्रकाशन किये। इनमें कुछ उल्लेख्य विद्वान् इस प्रकार हैं। जीवानन्द विद्यासागर (जन्म 1844) तारानाथ तर्कवाचस्पति के पुत्र थे। वे अपने पिता की ही तरह सभी विद्याओं में पारंगत लेखक और प्रकाशक थे। उन्होंने कुल 200 प्रकाशन किये। 107 संस्कृत ग्रन्थों पर तो उन्होंने स्वयं टीकाएँ लिखीं और उन्हें स्वयं प्रकाशित किया। इसमें उन्हें 22 वर्ष का समय लगा। उन्होंने कथासरित्सागर का 1400 श्लोकों में संक्षेप प्रस्तुत किया तथा अनेक कठिन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संस्कृत ग्रन्थों के सरल रूप सामने रखे। देश विदेश में उनकी टीकाएँ इतनी अधिक ग्राह्य हुईं कि स्वयं उनके जीवनकाल में इन ग्रन्थों के 5–6 पुनर्मुद्रण हुए। जॉन वुडरफ (1865–1936) ने आगमानुसन्धान समिति के माध्यम से "तान्त्रिक टेक्स्ट सिरीज" के अन्तर्गत अनेक तन्त्र ग्रन्थों को सम्पादित एवं प्रकाशित किया। इसमें महानिर्वाणतन्त्र, चिद्गगनचन्द्रिका, कुलार्णवतन्त्र, ताराभक्तिसुधार्णव, कामकलाविलास, तन्त्रराज आदि उल्लेख्य हैं।

5. भारतीय ज्ञान परम्परा के सफल प्रायोगिक प्रमाण

पिछली शताब्दी में भारतीय ज्ञान परम्परा की प्रायोगिक सफलता का सबसे ज्वलन्त उदाहरण है भारत का नवजागरण तथा देश की स्वतन्त्रता। इन दोनों आन्दोलनों में संलग्न छोटे बड़े नेता भारतीय ज्ञान परम्परा से उद्भूत विचारों से प्रेरित थे। इन्होंने इस परम्परा को प्रत्यक्षतः– संस्कृत माध्यम से अथवा अप्रत्यक्षतः देशज भाषाओं के माध्यम से ग्रहण किया था तथा उसका उपयोग देश के राजनैतिक, आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक उन्नयन में किया। राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक सुधारवादी आन्दोलनों के सभी नेताओं का भारतीय ज्ञान परम्परा तथा संस्कृत भाषा के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। अनेकों ने प्राचीन शैली में संस्कृत भाषा में ग्रन्थ लिखे। (जैसे, स्वामी दयानन्द सरस्वती, श्री अरविन्द, नारायण गुरु आदि)। अनेकों ने परम्परा के महनीय ग्रन्थों पर आधुनिक भाषा में तथा आधुनिक समझ के साथ भाष्य लिखे (जैसे, तिलक तथा गाँधी ने गीता पर)। अनेकों को उनके सम्प्रदाय के अनुयायियों द्वारा संस्कृत में सूत्रबद्ध किया गया (जैसे विवेकानन्द के दर्शन को स्वामी हर्षानन्द द्वारा श्री विवेकानन्द कर्मयोग सूत्र शतकम् में सूत्रबद्ध किया)। आधुनिक भारत का निर्माण करने वाली ये दोनों घटनाएँ किस प्रकार भारतीय ज्ञान परम्परा से प्रसूत थीं तथा उसके जीवन्तता का प्रतीक थीं, यह आगे उदाहरणों द्वारा प्रस्तुत है–

5.1. नवजागरण तथा अन्य सांस्कृतिक–आध्यात्मिक आन्दोलन :–

भारतीय नवजागरण पाश्चात्त्य सम्पर्क के कारण भारतीय समाज के द्वारा अनुभव किये जा रहे सुधारों का प्रतिफलन अवश्य था, लेकिन यह बहुत सीमा तक भारतीय ज्ञान परम्परा पर आधारित था। भारतीय नवजागरण वस्तुतः भारतीय ज्ञान परम्परा द्वारा अपने उज्ज्वल एवं अग्रगामी आयामों को आगे करके अपनी युगानुकूलता सिद्ध करने का भी महान् उदाहरण था। बंगाल में ब्रह्मसमाज, महाराष्ट्र में प्रार्थना समाज तथा देश के अनेक भागों में आर्य समाज ने जो विधवा विवाह आदि का समर्थन किया

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उसमें उन्होंने तर्क के साथ–साथ समर्थक वचन भारतीय परम्परा से भी उद्धृत किये। राजा राममोहन राय (1772–1833 ई.) भारतीय नव जागरण के पुरोधा थे। वे भारतीय ज्ञान परम्परा का अग्रगामी उपयोग करने वाले विद्वान् थे। भारतीय शास्त्रों में उनकी निष्णातता का पता इसी से लग सकता है कि उन्होंने मद्रास के सुब्रह्मण्य शास्त्री को शास्त्रार्थ में पराजित कर दिया था। उन्होंने शास्त्रों से सती प्रथा के विरुद्ध प्रमाण जुटाये। तारानाथ तर्कवाचस्पति (1812–1885) ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के गुरु थे। उन्होंने कन्याशिक्षा तथा विधवाविवाह से सम्बन्धित समर्थक उद्धरण विद्यासागर को दिये तथा उनके आन्दोलन में निरन्तर साथ रहे।[201] स्वामी दयानन्द सरस्वती (1824–1883 ई.) के द्वारा स्थापित आर्य समाज भारत की ज्ञान परम्परा के शुद्ध रूप का पुनरन्वेषण करने पर जोर देता है। इसके लिए उन्होंने वेद, वेदांग तथा आर्ष ग्रन्थों को आधार बनाया। अनेक सामाजिक रूढियों और बन्धनों को सारहीन सिद्ध कर देने के कारण स्वामी जी के अनुयायियों की संख्या पर्याप्त हो गयी। उन्होंने ज्ञान परम्परा को उन वर्गों की ओर भी प्रवाहित किया जो अन्यथा इससे विमुख थे अथवा विमुख कर दिये गये थे। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में उन्होंने जो पाठ्यक्रम बनाया है वह भारतीय ज्ञान परम्परा पर ही आधारित है। आर्यसमाजी गुरुकुलों में इसे बहुत सीमा तक क्रियान्वित किया गया। इसके परिणाम स्वरूप उसमें से बड़े–बड़े विद्वान, सुधारक, राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता, देशभक्त, समाजसेवक तथा शिक्षाविद् उत्पन्न हुए। उन्नीसवीं तथा बीसवीं सदी के विषम काल में संस्कृति की सुरक्षा तथा उसके प्रचार में स्वामी जी तथा उनके आर्यसमाज आन्दोलन का बड़ा हाथ था। उसी समय बंगाल में उभरे आन्दोलन भी भारतीय परम्पराओं के शुद्ध रूप का आग्रह करते थे। रूढ़ियों के खण्डन के लिए उन्होंने शास्त्रों के तर्कों का आश्रय लिया। इसलिए यह कहा जा सकता है कि ये आन्दोलन भारतीय ज्ञान परम्परा के सम्बल से विकसित हुए थे। विवेकानन्द (1863–1902 ई.) श्रीरामकृष्ण (1836–1886ई.) से प्रभावित थे। उनका नववेदान्तीय दर्शन पूर्णतः उपनिषदों तथा अद्वैत पर आधारित होता हुआ भी उसमें कर्म तथा सेवा के समन्वय का एक नया मत प्रस्तुत करता है। वे संस्कृत वाङ्मय के प्रखर अध्येता थे। उनके बनाये संस्कृत स्तोत्र अब भी रामकृष्ण मिशन के मठों में गाये जाते हैं। स्वामी जी राष्ट्रवादी चेतना के प्रसार के कारण भी आधुनिक भारत में अत्यन्त ग्राह्य हुए।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नवजागरण के सुधारवादी दृष्टिकोण का प्रतिकार करने वाले समूह भी उसी समय भारत में सक्रिय हुए। भारतीय परम्परा और उसमें विकसित सभी मोड़ और पड़ावों पर समेकित तथा अखण्ड दृष्टि रखने वाले विद्वानों ने सुधारवादियों का विरोध किया। इन विद्वानों में स्वामी करपात्री (1907–1980 ई.) जी प्रमुख हैं। स्वामी दयानन्द के वेद भाष्य पद्धति का विरोध करते हुए उन्होंने स्वयं वेदार्थ पारिजात नाम से वेदभाष्य का प्रयास किया। इसके अतिरिक्त इनके ग्रन्थ हैं–वेदस्वरूप विमर्शः, वेदप्रामाण्य मीमांसा, भक्तिरसार्णवः आदि। आज भी सनातनियों पर स्वामी करपात्री का प्रभाव स्पष्ट उपलक्षित होता है। उनके द्वारा स्थापित की गयीं धर्मसंघ की शाखायें देश के विभिन्न भागों में जनसामान्य को धर्म की ओर उन्मुख करने में प्रयासरत हैं।

श्री अरविन्द (1872–1950 ई.) ने एक दार्शनिक योगी की भूमिका में अपनी तत्त्वदृष्टि, इतिहास–दर्शन और संस्कृति दर्शन तथा योग समन्वय के द्वारा भारतीय सभ्यता बोध को दुनिया के समक्ष जिस 'कॉस्मिक टेलियॉलजी' के साथ प्रस्तुत किया था। वह जितना मौलिक था वह उतना ही प्रयोगधर्मी और सार्वभौतिक चरित्र वाला था।[202] उन्होंने एक सभ्यता दर्शन एवं विकास दर्शन तथा अतिमानस के रूप में एक नया मनोविज्ञान दिया। श्री अरविन्द संस्कृत, लैटिन आदि भाषाओं के प्रकाण्ड विद्वान् थे। संस्कृत के असाधारण ज्ञान के बल पर ही उन्होंने वेदों की आध्यात्मिक व्याख्या की। उन्होंने संस्कृत में स्वयं एक पद्यात्मक ग्रन्थ भवानी भारती लिखी है।

नारायण गुरु (1856–1928 ई.) केरल के महत्त्वपूर्ण सुधारक थे। उन्होंने जातिप्रथा की बुराइयों को दूर करने के लिए आवश्यक प्रयत्न किये। शूद्र वर्ग से होते हुए उन्हें वेदादि शास्त्रों के अध्ययन का अवसर मिला। इसका बड़ा उपयोग उन्होंने सामाजिक परिवर्तन में किया। उन्होंने मलयालम तथा तमिल के अतिरिक्त संस्कृत में 18 रचनायें कीं। इनमें से दर्शनमाला, ब्रह्मविद्यापंचकम्, निवृत्तिपंचकम्, श्लोकत्रयी, वेदान्तसूत्रम्, नारायणस्मृति आदि प्रमुख हैं।

भारतीय ज्ञान परम्परा तथा संस्कृत विद्या से सम्पृक्त अनेक विद्वान् ऐसे भी हुए जिन्होंने समाज के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। समाज को दिये गये उनके महत्त्वपूर्ण योगदान में उनकी सनातन ज्ञान परम्परा का बड़ा हाथ है। पण्डिता रमाबाई (1858–1922) ने द हाई कास्ट हिन्दू वूमन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लिखकर समाज में स्त्रियों की दशा पर बड़े ज्वलन्त प्रश्न खड़े किये। श्रीपाद दामोदर सातवळेकर (1867–1968 ई.) को वैदिक राष्ट्रवाद नामक पुस्तक लिखने पर अंग्रेज सरकार द्वारा जेल में बन्द कर दिया गया था। रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर, बालगंगाधर तिलक पाण्डुरंग वामन काणे, लक्ष्मण शास्त्री जोशी, गोपीनाथ कविराज, महापण्डित राहुल सांकृत्यायन संस्कृत तथा अध्यात्म की दृढ़भूमि में प्रशिक्षित तथा उसके पार और विपरीत दिखने वाले क्षेत्रों की यात्रा करने वाले पुरुषार्थी विद्वान् थे। आधुनिक भारत की वैज्ञानिक दृष्टि के निर्माताओं में उनका नाम अग्रगण्य है। विनोबा भावे (1895–1982) ने ईशोपनिषद्, भगवद्गीता तथा अन्य धर्मों के ग्रन्थों के संकलन प्रकाशित किये तथा उनके द्वारा समाज सुधार की प्रक्रिया में भी तेजी लायी। उन्होंने गीता का समश्लोकी मराठी अनुवाद गीताई नाम से भी किया।

वर्तमान युग में वेदान्त का सबसे नवीन लोकोपकारी प्रयोग सम्भवतः स्वामिनारायण सम्प्रदाय के द्वारा हुआ है। इसके संस्थापक सहजानन्द स्वामी (स्वामिनारायण, 1781–1830) हैं। विशिष्टाद्वैत तथा वल्लभवेदान्त के संश्लेषण से उन्होंने एक अलग मत चलाया जिसमें परब्रह्म तथा अक्षरब्रह्म दोनों के अस्तित्व को अलग स्वीकार किया गया है। इस नाते इस मत को अक्षरपुरुषोत्तम दर्शन भी कहते हैं। स्वामिनारायण ने जाति पर आधारित भेदभाव का विरोध किया तथा अनेक दुर्भिक्षों के अवसर पर उन्होंने स्वयं मानवसेवा का आदर्श सामने रखा। उन्होंने पुष्टिमार्ग के अनैतिक हो चले क्रियाकलापों का विरोध भी किया। आज स्वामिनारायण सम्प्रदाय समस्त विश्व में सेवा कार्यों में अग्रणी है। इसकी सर्वप्रमुख शाखा– "बी.ए.पी.एस." को गुजरात के भूकम्प (2001) के दौरान 15 गाँवों तथा 39 स्कूलों के पुनर्निर्माण के विशिष्ट कार्यों को देखते हुए संयुक्त राष्ट्र के आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् में सलाहकार का स्थान दिया गया है।

5.2. स्वतन्त्रता आन्दोलन :–

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन मुख्यतः क्रान्तिकारियों और राजनैतिक स्तर पर कार्य करने वाले नेताओं से संघटित था। दोनों प्रकार के नेता निरपवाद रूप से भारतीय ज्ञान परम्परा में दीक्षित थे। स्वातंत्र्य समर में भारत की विजय प्रकारान्तर से उसकी युगों प्राचीन ज्ञान परम्परा के पुनरुन्मेष की भी विजय थी। इससे इस परम्परा की जीवन्तता स्पष्ट भी हो जाती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

राष्ट्रीय आन्दोलन में बाल गंगाधर तिलक (1856–1920) काँग्रेस के गरम दल के अपने समय के सबसे प्रभावी नेता थे। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा–दीक्षा पारम्परिक संस्कृत रीति से हुई थी। उन्होंने भगवद्गीता की प्रचलित अद्वैत परक व्याख्या से भिन्न व्याख्या की जो कर्मयोग के अनुकूल है। उस समय जनता को प्रोत्साहित करने के लिए यह आवश्यक था। अपनी व्याख्या का नाम उन्होंने गीतारहस्य रखा है। उन्होंने शंकराचार्य के खण्डन में केवल पारम्परिक तरीकों का उपयोग न करके पाठ सम्बन्धी और प्रसंग–परक नये तर्कों को सामने रखा।[203] तिलक एक बड़े गणितज्ञ भी थे। ओरायन, आर्कटिक होम आफ द वेदाज तथा वेदाङ्ग ज्योतिष जैसे ग्रन्थ इसमें प्रमाण हैं। वेदों के समय के सम्बन्ध में उनका मत आज भी सबसे अधिक तर्कसम्मत है। राजनैतिक और सामाजिक मोर्चों पर यदि उन्होंने लोगों को अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध उकसाया तो साथ ही इन विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों के माध्यम से उन्होंने बौद्धिक स्तर पर भी भारतीयों को आत्मगौरव का भान कराया। श्यामजी कृष्ण वर्मा (1875– 1930) स्वतन्त्रता आन्दोलन के एक क्रान्तिकारी योद्धा, वकील तथा पत्रकार थे। उन्होंने लन्दन में "इंडियन होमरूल सोसायटी" तथा "इंडिया हाउस" की स्थापना की थी। वे संस्कृत तथा भारतीय भाषाओं के विशिष्ट विद्वान् थे। काशी के विद्वानों ने 1877 में उन्हें पण्डित की उपाधि दी। वे स्वामी दयानन्द के शिष्य थे तथा उनके स्वराज्य सम्बन्धी विचारों से प्रेरित थे। वे इंग्लैण्ड में मोनियर विलियम के सहायक भी रहे।

यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि गाँधी के विचारों में भारत का सनातन सत्य अपनी सोलहों कलाओं के साथ अवतरित होकर युगानुरूप नवीकृत हुआ था।[204] गाँधी जी भारतीय ज्ञान परम्परा के मूर्तिमन्त प्रायोगिक रूप थे। उन्होंने अपने प्रयोगों के द्वारा सत्य को फिर से अभिज्वलित किया और शास्त्रों के चिरन्तन सिद्धान्तों को केवल किताबों में बन्द हो जाने से बचाया। उन्होंने लोगों का विश्वास उन सिद्धान्तों पर फिर से दृढ़ किया। संस्कृत की बहुत सी चिरन्तन सूक्तियों का उन्होंने इस तरह से अपने जीवन में प्रयोग किया कि आज उनमें से बहुतों को हम गाँधी जी के नाम से उद्धृत करते हैं।[205] उनके जीवन पर भगवद्गीता का अत्यधिक प्रभाव था। उन्होंने स्वयं अनासक्तियोग नाम से भगवद्गीता का अनुवाद किया था। रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों को ऐतिहासिक न मानते हुए भी उन्होंने उनके उपदेशों को अपने जीवन में उतारा था। गाँधीजी संस्कृत समझते ही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नहीं थे, उन्होंने अपनी जीवनदृष्टि के 11 सिद्धान्तों को दो अनुष्टुप् छन्दों में स्वयं लिखा भी था।[206] भारतीय जीवन दृष्टि के समर्थन में तथा पाश्चात्त्य दृष्टि के खतरों के बारे में जो उन्होंने हिन्द स्वराज में लिखा था वह युगों–युगों तक मानवीय चेतना को सनातनी सभ्यता–दृष्टि से संस्कारित करती रहेगी।

दुःखद है कि इस ज्ञान परम्परा में दीक्षित तथा उसके मूर्तिमन्त प्रायोगिक रूप नेताओं की सहायता से प्राप्त स्वतन्त्रता का उपभोग करने वाले देश में इन मनीषियों की आधारभूत ज्ञान परम्परा को भुला दिया गया। "इससे ज्यादा भयंकर और त्रासद घटना क्या हो सकती है कि जिस राष्ट्रीय चेतना को गाँधीजी, श्री अरविन्द, तिलक और विवेकानन्द जैसे मनीषियों ने धर्म का आधार बनाया था उन्हीं को एक ऐसे समय में भुला दिया गया जब भारत एक विशिष्ट सांस्कृतिक हैसियत से पश्चिम की स्वार्थग्रस्त भौतिक सभ्यता को चुनौती दे सकता था"।[207] हमारे युग की यह आवश्यकता है कि उन्हें पुनः यथेष्ट मान्यता दी जाये।

औपनिवेशिक शासन की खामियाँ समझते हुए संस्कृत के अनेक विद्वानों, रचनाकारों ने उसके विरुद्ध साहित्य का सृजन किया। पता लगते ही उनमें से अनेकों को अंग्रेज सरकार ने जब्त कर लिया था। संस्कृत विद्वानों के द्वारा किये गये ऐसे महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप वर्तमान में उनकी सहभागिता के द्वारा भारत के स्वर्णिम इतिहास के निर्माण में उनकी साझेदारी का सबूत है। यह घटनाक्रम इस धारणा का भी प्रबल रीति से खण्डन करता है कि 1800ई. के बाद संस्कृत चिन्तन पद्धति में इतिहास बनाने भर की क्षमता नष्ट हो चली थी।[208]

6. भारतीय ज्ञान परम्परा की विश्वदृष्टि :–

वर्तमान विश्व में महामारियों, युद्धों, विभीषिकाओं का विषम काल चल रहा है। उसे दृष्टि में रखते हुए समस्त वैश्विक बिरादरी को इस बात पर विचार करना चाहिए कि मानव के विचार तथा व्यवहार में कहीं न कहीं बड़ी खामी है। मनुष्य प्रकृति से तालमेल बिठाने में नितान्त असफल रहा है। ऐसा क्यों हुआ है? इसके मूल में प्रकृति को देखने की उसकी मानवकेन्द्रित दृष्टि रही है। इसी दृष्टि ने प्रकृति के शोषण को प्रेरित किया है। और भी आगे बढ़कर विचार करें तो हम देख सकेंगे कि इसके मूल में आधुनिक मनुष्य का भौतिकतामय जीवन तथा आत्मकेन्द्रित विमर्श है। यही आत्मकेन्द्रित विचार समष्टि के स्तर पर उग्र राष्ट्रवाद के रूप में आकर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संसाधन विहीन व्यक्तियों और देशों को त्रास देता है। इसके नाते परिवार, समाज, देश और विश्व के स्तर पर अव्यवस्था तथा अशान्ति फैल रही है। भारतीय ज्ञान परम्परा में जीवन के प्रति एक समेकित दृष्टिकोण विकसित हुआ है। यह उपर्युक्त दृष्टि से हटकर है। भौतिक स्तर पर अस्तित्वमात्र के साथ उदारतापूर्ण साहचर्य बनाये रखना तथा आत्मिक स्तर पर अपने आप में सन्तुष्ट रहने का प्रयास करना इसकी दो प्रमुख विशेषतायें हैं। भारतीय परम्परा की ये दोनों विशेषताएँ जीवन के प्रति उसके साहचर्यपूर्ण सम्बन्ध को प्रकट करती हैं। "भारतीय ज्ञान परम्परा में प्राणिमात्र के सामने आ सकने वाली सभी प्रकार की समस्याओं पर विचार भी किया है, यथासम्भव उनके उत्तर भी दिये गये हैं जिन पर ध्यान देना मनुष्यता के लिए आवश्यक होगा"।[209] आगे हम इसकी कुछ विशेषताओं की ओर ध्यान आकर्षित करेंगे जिनका सफल प्रयोग इस देश में शताब्दियों तक किये गये हैं। भारतीय ज्ञान परम्परा के ये प्रायोगिक विचार समस्त विश्व और मानवता की सुरक्षा तथा कल्याण के लिए महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं –

6.1. समस्त अस्तित्व की पारस्परिक समानता (आत्मवत् सर्वभूतेषु) :–

भारतीय विचार पद्धति में अस्तित्व की दृष्टि से मनुष्य तथा शेष प्राणियों में भेद नहीं किया गया है। अधिक चेतन होने के कारण मनुष्य में विकास की (भोग की नहीं!) सम्भावनायें अवश्य अधिक हैं लेकिन सभी में समान रूप से आत्मा का निवास होने के कारण उन दोनों में महत्त्व का पौर्वापर्य अथवा तारतम्य नहीं है। यह बात केवल लुभावने सिद्धान्त के तौर पर नहीं है अपितु यह भारतीयों की जीवन दृष्टि का हिस्सा भी है। कर्म के आधार पर उच्चावच योनियों में पुनर्जन्म का सिद्धान्त इसकी सम्भावना को दृढ़ करता है कि मनुष्य किसी कालविशेष में वनस्पति, सरीसृप, कीट, जन्तु आदि भी रहा है, अथवा हो सकता है। इसलिए इनमें और मनुष्य में बहुत अधिक पार्थक्य नहीं है। श्रीमद्भागवत में यह महत्त्वपूर्ण बात कही गयी है कि "हमारे घर में रहने वाले हमारे पुत्रों और सरीसृपों, जानवरों, बन्दरों के बीच तात्त्विक अन्तर नहीं है? इसलिए उन्हें भी अपने पुत्रों की भाँति ही देखना चाहिये"।[210] जीव जगत् के प्रति इस प्रकार का दृष्टिकोण रखने के कारण भारतीय संस्कृति में अन्य संस्कृतियों की तरह मनुष्य को सृष्टि के शेष सभी जीवों का स्वामी (अशरफ–उल–मखलूकात) अथवा यथेष्ट उपभोक्ता नहीं माना गया है। पश्चिमी परम्परा की विचार प्रणाली मानवकेन्द्रित है। उसके नैतिक ढाँचे में प्राकृतिक जगत् को मनुष्य के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उपभोग तथा लाभ के लिए उत्पन्न माना गया है तथा केवल मनुष्य को ही इस जगत् में नैतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्वीकार किया गया है। प्रकृति स्वयं में मूल्यवान् नहीं है और इस प्रकार जब तक पशुओं एवं पौधों के विनाश से मानवहित प्रभावित न हो, उन्हें नष्ट करना न तो अशुभ है और न ही अनैतिक। आधुनिक पाश्चात्त्य मानव केन्द्रित नैतिकता के विपरीत प्राचीन काल से भारतीय धर्म–दर्शन एवं संस्कृति के अन्तर्गत समष्टिवादी नैतिकता की स्थापना की गयी जिसमें प्रकृति पर मनुष्य के शासन अथवा नियन्त्रण को स्वीकृति नहीं प्रदान की गयी है। भारतीय परम्परा में प्रकृति एवं मनुष्य के समन्वय, सहयोग एवं सामञ्जस्य की संस्तुति की गयी है। भारतीय दर्शन की आध्यात्मिकतावादी दृष्टि में सबको एक ही तत्त्व से उत्पन्न माना गया है।[211] आज भी हम देखते हैं कि वनस्पतियों से पत्ता तोड़ते हुए भी हिन्दू व्यक्ति उनसे प्रार्थना करता हुआ उनकी अनुज्ञा लेता है।

भारतीय ज्ञान परम्परा यह मानती है कि सबकी उत्पत्ति एक ही तत्त्व से हुई है, इसलिए जीवों के मध्य वास्तविक पौर्वापर्य नहीं है। अद्वैतवाद को मानें तो समस्त विश्व एक ही आत्मा का विस्तार है, और अगर विशिष्टाद्वैत को मानें तो ईश्वर समस्त जगत् का आत्मा है और जगत् उसका शरीर है। इसलिए हम सब एक दूसरे के अंग–प्रत्यंग हैं – (विशिष्टाद्वैत)। इसलिए सबकी भलाई में ही अपनी भलाई निहित है। एक अंग को कष्ट होने पर दूसरे अंग भी अनिवार्यतः कष्ट पाते हैं। किसी भी अन्य को कष्ट पहुँचा कर अपनी प्रसन्नता की चाहना करना मूर्खता है। इस तरह, भारतीय परम्परा में मनुष्य और प्रकृति दो विरोधी सत्ताओं में विभाजित नहीं थीं, बल्कि वे एक ही अद्वैतिक चेतना में अन्तर्निहित होती थी।[212] इसी आधार पर वह सबके कल्याण की बात भी निष्ठापूर्वक कर पाती है– सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्। यहाँ 'सर्व' में केवल मनुष्य जाति ही शामिल नहीं है बल्कि अस्तित्वमात्र सम्मिलित है। भारतीय ज्ञान परम्परा ने यह रहस्य बताया है कि स्वयं प्रसन्न रहने, शोकविहीन होने और अज्ञान से छूटने का एक ही उपाय है – "सर्वात्मभाव"। जब मनुष्य समस्त जगत् को अपना स्वरूप समझ लेता है तभी वह इन समस्याओं से छुटकारा पा सकता है। अपने को जगत् से विशिष्ट अथवा महत्त्वपूर्ण समझकर अहंकार ग्रस्त होने से नहीं– यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः। तस्य को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।।[213]

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उपर्युक्त विचारधारा के कारण प्रकृति को कभी भी भोग्य अथवा मिल्कियत की तरह नहीं देखा गया। बहुत बार तो उसे मनुष्य से बढ़कर देवता का स्थान दिया गया। इस चिन्तन द्वारा भौतिक स्तर पर पारस्थितिकी रक्षा को तो सुनिश्चित किया ही गया, इसके साथ ही आध्यात्मिक स्तर पर मनुष्य की चेतना को उदात्त बनाने का कार्य भी किया गया। "...भारतीय संस्कृति में धरती पर मनुष्य अकेला निवास नहीं करता, वह अनेक जीव जन्तुओं और देवी देवताओं के सान्निध्य में प्रकृति के साथ एक आत्मीय समबन्ध बनाकर जीवन यापन करता है। मनुष्य का सम्बन्ध मनुष्येतर जगत् के साथ इतना सघन और सजीव होता है कि दोनों के बीच किसी तरह की विभाजन–रेखा खींचना असम्भव है। मनुष्य की चेतना केवल मानवीय लोक तक सीमित न रहकर तीनों लोकों में स्वतन्त्र विचरण करती है"।[214] "भारतीय दर्शन, धर्म और नीति इत्यादि के द्वारा मनुष्य और प्रकृति, मानवीय तथा मानवेतर संसार के बीच के सम्बन्धों के रहस्यों को खोलने के बहुविध प्रयास किये गये हैं। "देवो भूत्वा यजेद्देवम्" से लेकर "आत्मवत् सर्वभूतेषु" के आदर्शों में यही भाव गहरे में प्रतिध्वनित होता है। प्रत्येक भारतीय के लिए अपने जीवन में ऋणत्रय चुकाना और प्रतिदिन पञ्च महायज्ञों का कर्तव्य विधान मानवीय संसार और मानवेतर संसार के मध्य आत्मीय सम्बन्ध बनाये रखने का ही तो विधान है। ....एतरेय उपनिषद् (1.2. 4) में मनुष्य और प्रकृति, बाह्य और आन्तर की स्वभावगत एकता को ही तो यह कहते हुए प्रतिध्वनित किया गया है कि– अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्। वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्। आदित्यश्चक्षुषी भूत्वाक्षिणी प्राविशत्। दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशत्। औषधिर्वनस्पतयो भूत्वा त्वचि प्राविशन्। चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्। मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत्। आपो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशत्।"[215] प्रकृति में भी चैतन्य है, इस बात को महाभारत के शान्तिपर्व के 177 वें अध्याय मे बड़े ही वैज्ञानिक प्रमाणों के साथ भृगु तथा भारद्वाज के मध्य संवाद के द्वारा प्रमाणित किया गया है। मनुस्मृति में वृक्ष को हानि पहुँचाने पर दण्ड की व्यवस्था की गयी है।

अस्तित्व की एकता को इस प्रकार समझ सकने के कारण अस्तित्व के बीच यह पारस्परिकता सहिष्णुता मात्र नहीं रह जाती बल्कि अपने अतिरिक्त दूसरे हर प्राणी को अपने अस्तित्व के पूरक के रूप में देखना

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आवश्यकता जैसी बन जाती है।"मानवमात्र में अन्यता का अभाव एक प्राचीन वट–वृक्ष की तरह भारतीय संस्कृति ने अपनी छाया तले सैकड़ों जातियों, जनजातियों, धार्मिक समुदायों को वह पवित्र स्पेस प्रदान की थी, जहाँ वे मुक्त हवा में साँस ले सकें। यह केवल सहिष्णुता की बात नहीं थी, जहाँ 'अन्य' को अपने से अलग मानकर उसे सहन किया जाता था, बल्कि इसके पीछे कहीं यह मान्यता काम करती थी कि विभिन्न विश्वासों के बीच सत्य की सत्ता समान रूप से क्रियाशील रहती है...अपने में अखण्डित और अपरिवर्तनशील। भारतीय सभयता को अपनी यह अनमोल अन्तर्दृष्टि स्वयं अपनी आध्यात्मिक परम्परा से प्राप्त हुई थी, जहाँ 'आत्म' और 'अन्य' के बीच का भेद अविद्या का लक्षण था, सत्य का नहीं"।[216]

वस्तुतः मनुष्य का अन्य प्राणियों के साथ अस्तित्व परस्पर इतना संघनित है कि इसे एक दूसरे के सहयोग के अतिरिक्त सुचारु सहजीवन का अन्य कोई मार्ग नहीं है। आधुनिक विश्व को यह बात यथाशीघ्र समझ लेनी होगी और इसमें भारतीय जीवन दृष्टि उसकी बड़ी सहायक सिद्ध हो सकती है।

6.2. लोभ का निरसन :–

समस्त अस्तित्व में जब हम अपना अंग अथवा अपना स्वरूप देख पाते हैं तो हम स्वाभाविक रूप से उसके प्रति उदार बनते जाते हैं। हमारी क्रियाओं का लक्ष्य तब केवल हम अकेले नहीं रह जाते। हम समस्त विश्व के बारे में सोचने लगते हैं। इस तरह हमसे अपरिग्रह अपने आप सधने लगता है। हम लोभरहित हो जाते हैं। भारतीय जीवन पद्धति में विहित दान तथा यज्ञ की भावना उस आत्मकेन्द्रितता को दूर करती है जो सभी समस्याओं की जड़ है। केवलाघो भवति केवलादी। (ऋ. 10.117.1), भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् (गीता 3.13) आदि वाक्यों द्वारा शास्त्र एक स्वर में अकेले भोग करने को गर्हित मानते हैं। भारतीय ज्ञान परम्परा में लोभ को सभी पापों का कारण कहा गया है (लोभः पापस्य कारणम्)। भगवद्गीता ने इसे नरक के तीन दरवाजों में से एक माना है (भगवद्गीता 16.21)। भारतीय ज्ञान परम्परा की शिक्षा है कि हम उपार्जित चाहे जितना कर लें लेकिन हमारा अधिकार केवल उतने अंश पर है जितने से हमारा पेट भर जाता है। बाकी संसाधनों पर यदि हम अधिकार जताते हैं तो हम चोर हैं।[217] मनुष्य भोग की सामग्री लोभवश एकत्रित करता रहता है ताकि उसकी तृष्णाएँ पूरी हो जायें। उसे लगता है कि तृष्णाओं के पूर्ण होने से उसे सुख प्राप्त हो

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जायेगा। लेकिन सुख तो तृष्णा के पूर्ण होने में नहीं है अपितु उसके विगलित होने में है। क्योंकि पूर्ण हुई तृष्णाएँ और अधिक तृष्णाओं को उत्पन्न करती हैं और हमें भोगों के पीछे भगाकर थकाती रहती है।[218] तृष्णा के नष्ट होने और सन्तोष के उत्पन्न होने पर जो सुख होता है वह सुख किसी भी भोग विशेष के प्राप्त होने पर नहीं हो सकता।[219] आज का भौतिकता से प्रेरित विश्व भौतिक वैभव के पीछे पड़ा हुआ है। इसके लिए वह विविध उद्योगों को लगाकर अधिकाधिक उत्पादन करता है तथा विज्ञापनों द्वारा लोगों में उसकी कृत्रिम जरूरत पैदा करता है। इसके लिए वह प्राकृतिक स्रोतों का भी अन्धाधुन्ध दोहन करता है। प्रकृति के इस अविवेकपूर्ण शोषण से वैश्विक ताप, बाढ़ आदि जैसी अनेक पर्यावरणीय समस्याएँ आये दिन देखने को मिल रही हैं। इस व्यापार–प्रधान दृष्टिकोण के कारण विश्व में धनी लोग और धनी तथा सम्पन्न देश अधिक सम्पन्न होते जा रहे हैं। गरीब जन और देश पहले से अधिक संसाधन विहीन। विश्व के अधिकतम संसाधानों पर कुछ देश के कुछ ही लोगों का कब्जा हो चला है। आर्थिक सुविधाओं का समान वितरण न हो पाने के कारण अधिकांश मानव अभाव के नाते दुःखित हैं और शेष साधन सम्पन्न लोग तृष्णा का पीछा करते हुए विक्षुब्ध हैं। इन सब अव्यवस्थाओं के पीछे मनुष्य का लोभ ही कार्यरत है जो विकराल रूप लेकर, राष्ट्रीय लोभों में बदलकर निर्धन और निर्बल राष्ट्रों को पीडित कर रहा है। फलतः विश्व में आन्तरिक तथा बाह्य दोनों प्रकार की अशान्ति हो चली है। इससे छूटने का एक मात्र उपाय है लोभ का त्याग करना और सन्तोष का दामन थामना।

6.3. धर्मानुकूल आचरण :–

भारतीय ज्ञान परम्परा में कुछ ऐसे सार्वभौम नियमों का विकास किया गया जिसके ठीक–ठीक आचरण से समाज में पारस्परिकता तथा सौहार्द की वृद्धि होती है। इन नियमों को "धर्म" के नाम से जाना गया है। अपना हित वस्तुतः सबके हित में ही हो सकता है, इसलिए धर्म के ये नियम केवल सामूहिक हित के लिए नहीं बल्कि व्यक्तिगत हित के लिए भी अनिवार्य हैं। इन नियमों को "धर्म" इसीलिए कहते हैं क्योंकि ये समाज तथा व्यक्ति को धारण करते हैं। ध्यातव्य है कि भारतीय परम्परा में धर्म का तात्पर्य मजहब, दीन अथवा रिलिजन से कहीं भिन्न और उदात्त है। इनमें से सर्वमान्य नियम हैं– अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), शौच (विचार तथा कर्म की शुद्धता), इन्द्रियनिग्रह, दान, दया, दम, सन्तोष, क्षमा, विद्या तथा ज्ञान आदि।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इन नियमों का पालन केवल इसलिए करना आवश्यक नहीं है कि इनका उपदेश धर्मग्रन्थों में किया गया है, बल्कि इसलिए भी कि समाज और व्यक्ति के मध्य परस्पर सहयोग बाधित न हो। मनुस्मृति (8.15) का कहना है कि यदि व्यक्ति इन सार्वभौम नियमों का पालन नहीं करेगा तो इन नियमों का पालन नहीं करना ही उसको नष्ट कर डालेगा–धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः। आज के समय में विश्व में जो भी सामाजिक, पारस्परिक समस्याएँ आ रही हैं उनके मूल में कहीं न कहीं इन सार्वभौमिक नियमों के उल्लंघन को ही कारण के रूप में देखा जा सकता है।

6.4. ज्ञान तन्त्र की स्थापना :–

उपर्युक्त जितनी भी मूल्यपरक बातों की चर्चा की गयी वे सब एक विचार–प्रधान समाज में ही लागू हो सकती हैं। इसके लिए आवश्यक है कि समाज में ज्ञान को वरीयता दी जाये। भारतीय परम्परा का महत्त्व इस कारण से है कि उसमें ज्ञान को सम्पत्ति तथा शक्ति दोनों की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया गया है। वैदिक ऋषियों की प्रार्थना है कि हमें विकसित करने वाला और हमें दबाकर न रखने वाला ज्ञान प्रवाह विश्व की समस्त दिशाओं से हमारी ओर आये– आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः।[220] मनुष्य का जीवन केवल सम्पत्ति के उपार्जन अथवा उसके उपभोग के लिए नहीं है, और न ही शक्ति का सन्धान करके, कमजोरों को पीडित करके अपनी अहमन्यता सिद्ध करने के लिए है। शक्ति और सम्पत्ति दोनों जीवन को सरल करने के साधन हो सकते हैं, मानव के वास्तविक गन्तव्य के उपकरण नहीं। निःस्वार्थ ज्ञान ही वह उपकरण है जिससे हम समाज में सुख शान्ति लेकर आ सकते हैं। इसलिए भारतीय ज्ञान परम्परा में ज्ञान को सबसे बड़ा उपकरण माना गया है – ज्ञानात् परतरं न हि। ज्ञान की इसी अपूर्व उपासना के कारण भारतवर्ष शताब्दियों से विश्व भर की ज्ञान परम्पराओं का संश्लेषणात्मक केन्द्र बना रहा है। उसका विश्वगुरु होना इस नाते भी है कि यहाँ पर समस्त विश्व के विद्यास्थानों का अध्ययन, अध्यापन और पोषण होता रहा है। "यदि भारत का सभ्यताबोध और सांस्कृतिक परम्पराएँ आज भी मौजूद हैं, तो उसका मुख्य कारण वह केन्द्रीय आध्यात्मिक तत्त्व है, जिसमें इतनी क्षमता और ऊर्जा थी कि इतिहास के निर्मम थपेड़ों के बावजूद वह समस्त प्रभावों को अपने भीतर समाहित कर सका। अंग्रेजी मार्क्सवादी इतिहासकार ई.पी. टॉप्सन के शब्दों में – "भारत सिर्फ महत्त्वपूर्ण ही नहीं, दुनिया का शायद सबसे महत्त्वपूर्ण देश है, जिस पर सारी दुनिया का भविष्य निर्भर करता है। भारतीय

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

समाज में दुनिया के विभिन्न दिशाओं से आते प्रभाव एक दूसरे के साथ मिलते हैं... पूर्व या पश्चिम का कोई ऐसा विचार नहीं, जो भारतीय मनीषा में क्रियाशील न हो"।[221]

6.5. वैचारिक एकाधिपत्य का निरादर (मनुष्यता की श्रेष्ठता) :–

भारतीय मनीषा की गौरवशाली परम्परा रही है कि उसमें जहाँ विश्वासों, मतों और विचारों के भेद को स्वीकार किया गया है। वहीं इस धारणा को हमेशा से अस्वीकृत किया गया है कि किसी एक विशेष धार्मिक अथवा राजनैतिक सम्प्रदाय के सिद्धान्त अपने में इतने श्रेष्ठ और उत्तम हैं कि वे दूसरे सम्प्रदायों पर अपना प्रभुत्व आरोपित कर सकें। दूसरे शब्दों में, किसी सम्प्रदाय को यह नैतिक अधिकार नहीं है कि वह अपने समाज की विविध बहु–आयामी अनेकधर्मा जीवन प्रणाली को खंडित करके किसी एक विश्वास अथवा मत की तथाकथित सार्वभौमिक सत्ता को स्थापित करने का दावा करे। अतः साम्प्रदायिकता की भावना इसलिए उत्पन्न नहीं होती कि हमारा समाज अनेक सम्प्रदायों में आबद्ध है... वह इस दर्पपूर्ण, अहंकेन्द्रित पूर्वग्रह से उत्पन्न होती है कि किसी एक सम्प्रदाय को इतनी श्रेष्ठता स्वतः प्राप्त है कि वह अन्य सम्प्रदायों को बलपूर्वक अपने विश्वासों का अनुयायी बनाये। जब किसी सम्प्रदाय के प्रतिनिधि दूसरे सम्प्रदाय के सदस्यों को धर्म परिवर्तन के लिए विवश करते हैं तो उसके पीछे 'श्रेष्ठता' की यही (हीन–) भावना काम कर रही होती है।[222] भारतीय विचार पद्धति बलपूर्वक अथवा लोभ दिखाकर किसी के मत के परिवर्तन का बिलकुल समर्थन नहीं करती। इसका कारण यह है कि वह पूजा की पद्धतियों की विविधता को मान्यता देती है। यह सेमेटिक (यहूदियों को छोड़कर) धर्मों द्वारा प्रसारित व्यवस्था है। मतान्तरण की इस प्रक्रिया में कहीं न कहीं यह भावना कार्य करती है कि हमारा मत बाकी सभी लोगों से उत्तम है। इसमें दूसरे धर्मों के प्रति हीनता की भावना भी जुड़ी हुई होती है। वस्तुतः अपने से सम्बद्ध वस्तु को श्रेष्ठ मानते हुए किसी अन्य को हीन मानना एक प्रकार की मानसिक ग्रन्थि है, जो धार्मिक श्रेष्ठता के विषय में और घातक होकर उभरती है। विश्व के इतिहास का हर दौर इस विभीषिका का साक्षी रहा है। भगवद्गीता (4.11) में श्रीकृष्ण ने गीता के सन्देश को श्रद्धालु, शुश्रूषु लोगों तक पहुँचाने की बात करते हुए भी यह स्पष्ट किया है – संसार में सभी लोग मेरे ही मार्ग का अनुगमन कर रहे हैं (मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः) इसलिए मतान्तरण का प्रयास मूर्खता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आज विश्व में राष्ट्रों के परस्पर द्वेष के कई कारणों में से एक अपने धर्म की स्वयंप्रचारित श्रेष्ठता को मानना भी है। भारत में प्राचीन काल से अनेकानेक धर्मों, मतों, विचारधाराओं का परस्पर आत्मिक भाव से सह–अस्तित्व रहा है। विश्व यदि भारत के इस व्यवहार से कुछ सीखता है तो संसार में वैयक्तिक और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कटुता और हिंसा बहुत सीमा तक कम हो सकती है।

6.6. मनुष्य के लिए उच्चतम सम्भावना की तलाश :–

भारतीय ज्ञान परम्परा मनुष्य तथा अन्यान्य प्राणियों के बीच तात्त्विक समानता को मान्य करते हुए भी मनुष्य को असीम सम्भावनाओं से युक्त मानती है। इसी कारण महाभारत में कहा गया है कि मनुष्यता से श्रेष्ठ और कुछ नहीं है– न मानुषात्श्रेष्ठतरं हि किंचित्। इसका कारण यह है कि मनुष्य मननशील है। भूत–भविष्य के दुःखों और उसके कारणों पर विचार करके उससे पार जाने की क्षमता उसमें होती है। उसे अमृतस्य पुत्राः (श्वेताश्वतर 2.5) कहकर सम्बोधित करते हुए उसमें यह सम्भावना व्यक्त की जाती है कि वह संसार के मूल रहस्य तक पहुँचने में सक्षम है। संसार के समस्त प्राणियों के साथ समत्व का व्यवहार करते हुए, अपने सभी कर्तव्यों का पालन करते हुए वह कर्मों से छूट सकता है। इसके लिए आवश्यक है कि वह अन्तर्मुख हो। केवल भौतिकता में रमकर वह अपने सीमित समय को नष्ट न कर दे। लोभ तथा मोह के वश में न आये। तब वह जान सकेगा कि समस्त सृष्टि के मूल में क्या है? आज इस प्रकार की आध्यात्मिकता की विश्व को अत्यधिक आवश्यकता है। बढ़ती हुई भौतिकता ने मनुष्यता को स्वार्थपरक बना दिया है। सारा अस्तित्व इस तरह परस्पर पर अवलम्बित है कि दूसरे का अहित अन्ततः अपना भी अहित हो जाता है। दूसरे के हित को छीनकर व्यक्ति सोचता है कि मैं सुखी होउंगा, जबकि ऐसा बिलकुल नहीं हो सकता। दानशीलता, दूसरों के प्रति उदारता आदि कुछ ऐसे दिव्यगुण हैं जिनसे व्यक्ति भौतिकता की जड़ता से मुक्त हो सकता है तथा अपने अन्दर विद्यमान अपार आध्यात्मिक सम्भावनाओं की तलाश कर सकता है। उद्यानं ते पुरूष नावयानम् (अथर्ववेद 8.1.6) यह भारतीय ज्ञान परम्परा का वास्तविक स्वर है तथा मानवमात्र के लिए सर्वदा स्पृहणीय है।

भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान
राष्ट्रपति निवास, शिमला-171005

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी –

1. *निर्मल वर्मा (1981, 35) उद्धृत शर्मा (2018, 59)*
2. *शर्मा (2018, 59)*
3. *उदाहरण के लिए अमेरिकन ओरिएंटलिज़्म के माध्यम से पिछले दशकों में किये जाने वाले तीव्र दुष्प्रचार। शेल्डन पोलक का मानना है कि – (with the spread of European power, however, this dynamism diminished so much that by 1800, the capacity of Sanskrit thought to make history had vanished- (Pollock 2001, 394*
4. *"उन्नीसवीं सदी भारतीय इतिहास का अनोखा समय है। सामांजिक राजनीतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक और साहित्यिक क्षेत्रों में जितने बड़े व्यक्तित्व इस सदी में जन्में, उतने हमारे इतिहास के शायद ही किसी और दौर में जन्में हों। संस्कृत की पाण्डित्य परम्परा पर यह बात विशेष रूप से लागू होती है..." (त्रिपाठी 2020,107)*
5. *उदाहरण के लिए दे. Pollock (2001)*
6. *शतावधानी रा. गणेश का आकलन।*
7. *"भारत की वास्तविक और सम्पूर्ण आत्मप्रतिमा को अतीत के सातत्य में ही वर्तमान भारत को समझने और उसी के पुरातन लेकिन मूल्यवान् अर्थ–सन्दर्भों से सम्पुटित कर निर्मित किया जा सकता है"। (शर्मा 2018, 60)*
8. *आचण्डालं मनुष्याणाम् अल्पं शास्त्रप्रयोजनम्। वाक्यपदीय 1.40*
9. *नदी वेगेन शुद्ध्यति–वशिष्ठस्मृति 3.54, आंगिरस 42, अत्रिस्मृति 5.38*
10. *यज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा। (निरुक्त 1.20)*
11. *यास्क*
12. *त एते वक्तुरभिप्रायवशादन्यत्वमपि भजन्ते मन्त्राः। न हि एतेषु अर्थस्येयत्ताव–धारणमस्ति। महार्था ह्येवैते दुष्परिज्ञानाश्च। यथाश्वारोहवैशिष्ट्यादश्वः......साधुः साधुतरश्चावहति, एवमेते वक्तृवैशिष्ट्यात् साधून् साधुतरांश्चार्थान् स्रवन्ति (दुर्ग. निरुक्त नैघण्टुककाण्ड, 2.8)*
13. *अत्राह त्वं विजहुर्वेद्याभिरोहब्रह्माणो विचरन्त्यु त्वे। (ऋग्वेद 10.71.8)*
14. *पुरस्तान्मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन्को न ऋषिर्भविष्यतीति। तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढम्। (निरुक्त 13.12)*
15. *गोरक्षशतक (60) में इसका हठयौगिक सन्दर्भ में अर्थ लिया गया है।*
16. *सर्वमुखत्वं वेदानाम्।*
17. 1. *इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।*
   बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो ममयं प्रहरिष्यति।। (महाभारत, आदि पर्व 1.267,268)
   2. *यन्न दृष्टं हि वेदेषु तद्दृष्टं स्मृतिषु द्विजारू।*
   उभयोर्यन्न दृष्टं हि तत्पुराणैः प्रगीयते (स्कन्दपुराण प्रभासखण्ड 5.3.124)
18. *प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः। (मुण्डकोपनिषद् 1.2.7)*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

19. तेज एव श्रद्धा सत्यमाज्यम् (11.3.1.,1,) ।..... न वा इह तर्हि किं चनासीदथैतदहूयतैव सत्यं श्रद्धायामिति (11.3.1.,4,)
20. यो जागार भुवनेषु। विश्वा जातानि योऽबिभः। तस्मिन्त्साऽस्य हुताऽऽहुतिर्गृहे यामस्य जुह्वतीति प्राणमेवैतदाह तस्मादाहुः प्राण एवाग्निहोत्रमिति–(11.3.1,.8,)
21. ऋत्विजो हैव देवयजनम्। ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचाना विद्वांसो याजयन्ति सैवाह्वलैतन्नेदिष्ठतमामिव मन्यामहे इति3.1.1.4–5
22. श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।।4.33।।
23. यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि (श्रीमद्भगवद्गीता 10.125)
24. भगवद्गीता में अनेक जगह भौतिक यज्ञों को न छोड़ने की सलाह दी गयी है–
i) न निरग्निर्न चाक्रियः।(6.1)
ii) यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्। (18.15)
25. (शुक्ल 2016, अपोहस्तदपोहनं च)
26. (Kane 1946, 949)
27. धर्म जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः। (मनुस्मृति 2–13)
28. अ) महाभारत पर वेदत्व का अतिदेश –
1. इतिहासः पुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते (भागवतम् 1.4.20)
2. भारतं पञ्चमो वेदः सुपुत्रः सप्तमो रसः।
दाता पञ्चदशं रत्नं जामातो दशमो ग्रहः।। (सुभाषित)
आ) पुराणों पर वेदत्व का अतिदेश–1. भेदैरष्टादशैर्व्यासः पुराणं कृतवान् प्रभुः।
योऽयमेकश्चतुष्पादो वेदःपूर्वं पुरातनात्।। (कूर्मपुराण अध्याय–49)
2. इतिहासः पुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते (भागवतम् 1.4.20)
इ) नाट्यशास्त्र पर वेदत्व का अतिदेश–योऽयं भगवता सम्यग्ग्रथितो वेदसम्मितः। नाट्यवेदः कथं ब्रह्मन्नुत्पन्नः कस्य वा कृते।। (नाट्यशास्त्र 1–4)। नाट्यशास्त्र में कुल 15 बार इसके लिए नाट्यवेद का प्रयोग किया गया है। (त्रिपाठी 2014, 512)
आधुनिक युग में भी महात्मा गाँधी ने तिरुवल्लुवर के प्रसिद्ध नीति ग्रन्थ तिरुक्कुरळ को तमिळवेद कह कर सम्मानित किया था। (मराठी विश्वकोश–तिरुक्कुरळ प्रविष्टि के अन्तर्गत)
29. उपकारकत्वात् अलङ्कारः सप्तममङ्गम्–इति यायावरीयः। ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानाद् वेदार्थानवगतिः। (काव्यमीमांसा 2,पृ. 12)
30. आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतयश्चतस्रो विद्याः इति कौटल्यः।...
पञ्चमी साहित्यविद्या इति यायावरीयः। सा हि चतसृणामपि विद्यानां
निःस्यन्दः। आभिर्धर्मार्थौ यद्विद्यात्तद्विद्यानां विद्यात्वम्।।(काव्यमीमांसा 2, पृ. 18)
31. पाणिनि ने अपने शास्त्र में लाघव की दृष्टि से एक समान विधियों का अनुभव करने वाले शब्दों का एक समान वर्ग बनाया है, जिन्हें उन्होंने गणपाठ में पढ़ा है। गणपाठों

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

में से कुछ में शब्दों की संख्या निश्चित रहती है जबकि कुछ में समान विधियों के अनुसार और भी शब्द जोड़े जा सकते हैं। दूसरे प्रकार के गणों को आकृति गण कहते हैं– आकृत्या गण्यन्ते इति आकृतिगणाः।

32. विधातुस्तस्य लोकानामङ्गोपाङ्गनिबन्धनाः।
विद्याभेदाः प्रतायन्ते ज्ञानसंस्कारहेतवः। ।वाक्यपदीयम् 1.10

33. दे. ईश्वरसाधनदूषणम् (रत्नकीर्ति),
http://www-dsbcproject-org/canon-text/content/515/2433

34. वेदप्रामाण्यं कस्यचित् कर्तृवादः स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः।
सन्तापारम्भः पापहानाय चेति ध्वस्तप्रज्ञाने पञ्च लिङ्गानि जाड्ये।। (प्रमाणवार्तिक 3.340, स्वोपज्ञटीकां, पृ. 359)

35. उत्तराध्ययनसूत्र 12.46। तथा, शौचमाध्यात्मिकं त्यक्त्वा भावशुद्ध्यात्मकं शुभम्। जलादिशौचं यत्रेष्टं मूढविस्मापकं हि तत् (उमास्वाति) सूर्यार्घो ग्रहणस्नानं संक्रान्तौ द्रविणव्ययः। संध्यासेवाग्निसत्कारो गेहदेहार्चनो विधिः नदीनदसमुद्रेषु मज्जनं धर्मचेतसा। तरुस्तूपाग्रभक्तानां वन्दनं भृगुसंश्रयः। गोपृष्ठान्तनमस्कार–स्तन्मूत्रस्य निषेवणम्।
रत्नवाहनभूयक्षशस्त्रशैलादिसेवनम्। समयान्तरपाखण्डवेदलोकसमाश्रयम्।
एवमादिविमूढानां ज्ञेयं मूढमनेकधा।। उपासकाध्ययन,कल्प 4 श्लोक 136.139

36. उदाहरण के लिए – मनुस्मृति–अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे परे। अन्ये कलियुगे नणां युगह्रासानुरूपतः 1.85, 1.86 भी

37. 1. सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते। (4.33)
2. यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः। ।2.46। ।

38. वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया मनु. 2.67

39. कलिं सभाजयन्त्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः।
यत्र संकीर्तनेनैव सर्वःस्वार्थोऽभिलभ्यते (भागवतपुराण 11.5.36) (पद्मपुराण .61.5–8)

40. 1. हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलं।
कलौ नास्त्यैव.नास्त्यैव नास्त्यैव गतिरन्यथा (बृहन्नारदीयपुराण)
2. कलिजुग केवल नाम अधारा। सुमिरि सुमिरि नर उतरहिं पारा (रामचरितमानस)

41. मन्त्रब्राह्मणयों वेदनामधेयम्। आपस्तम्बश्रौतसूत्र 24.1.31

42. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

43. अद्याप्यमर्त्यलोके तु शतकोटिप्रविस्तरम्
तदर्थोऽत्र चतुर्लक्षः सङ्क्षेपेण निवेशितः (मत्स्यपुराण 53.10,)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

44. एवं द्वादशसाहस्रैः श्लोकैरेकं तदर्धतः।
षड्भिः श्लोकसहस्रैर्यो नाट्यवेदस्य संग्रहः (भावप्रकाशन पृ. 287, उद्धृत–उपाध्याय 1969, 164)
45. समुद्रवद् व्याकरणं महेश्वरे तदर्धकुम्भोद्धरणं बृहस्पतौ।
तद्भागधेयाच्च शतं पुरन्दरे कुशाग्रबिन्दूत्पतितं हि पाणिनौ (सारस्वतभाष्य)
46. विस्तीर्णां बोधायनवृत्तिं पूर्वाचार्याः सञ्चिक्षिपुः, तन्मतानुसारेण सूत्राक्षराणि व्याख्यास्यन्ते। (श्रीभाष्य 1.1.1)
47. जन्मसंस्कारविद्यादेः शक्तेः स्वाध्यायकर्मणोः।
ह्रासदर्शनतो ह्रासः सम्प्रदायस्य मीयताम् उदयनाचार्यकृत न्यायकुसुमाञ्जलिः 2.3
Progressive degeneration के लिए देखें–(Kane 1946,886)
48. कल्पनालाघवं यत्र तं पक्षं रोचयामहे।
कल्पनागौरवं यत्र तं पक्षं न सहामहे (गोवर्धनकृत तर्कभाषाप्रकाशिका में वाचस्पतिमिश्र के नाम से उद्धृत, पृ. 106)
49. इति केवलव्यतिरेकानुमानेनैव रात्रिभोजनस्य प्रतीयमानत्वात् किमर्थमर्थापत्तिः कल्पनीया। (तर्कभाषा, पृ.139)
50. यद्यत्र घटोऽभविष्यत्ततोऽद्रक्ष्यतेत्यादितर्कसहकारिणा अनुपलम्भसनाथेन प्रत्यक्षेणैवा–भावग्रहणात्। (तर्कभाषा, पृ. 143)
51. दे. प्रमाणान्तर्भावप्रकरण (रत्नकीर्ति)
http://www-dsbcproject.org/canon-text/content/515/2437
52. उदाहरण के लिए उन्होंने काल, आकाश तथा दिशा को ईश्वर में अन्तर्भूत कर दिया है।
53. परिचय के लिए दे. (उपाध्याय 1969,)
54. एक उदाहरण यहाँ पर्याप्त होगा। पाणिनि ने अष्टाध्यायी 1.4.24 से 1.4.31 तक 8 सूत्रों द्वारा अपादान संज्ञा का विधान किया है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने ध्रुवमपायेऽपादनम् (1.4.24) के अतिरिक्त अन्य सभी सूत्रों का खण्डन कर दिया है। उनके अनुसार.अन्य सभी सूत्रों के प्रयोजन पहले ही सूत्र से गतार्थ हो जायेंगे। कारण यह है कि बाकी सारे सूत्रों द्वारा उपस्थापित प्रसंगों में भी किसी न किसी तरह का विश्लेष व्यक्त हो ही रहा है, चाहे वह कायिक हो अथवा बौद्धिक भी। फलतः उन सूत्रों को अलग से पढ़ने की आवश्यकता नहीं हैं। (दे. महाभाष्य 1.4.25 से 1.4.31)। देवनन्दी ने महाभाष्यकार को परम प्रमाण मानते हुए जैनेन्द्र व्याकरण के अपादान प्रकरण में केवल एक ही सूत्र बनाया है तथा उसमें बुद्धि के अंश का स्पष्टतः निर्देश कर दिया है– ध्यपाये ध्रुवमपादानम् (जैनेन्द्रव्याकरण 1.2.110)।
55. उदाहरण के लिए विप्रतिषेधे परं कार्यम् (अष्टा. 1.4.2) सूत्र की सीमा से अतिव्याप्त होने वाली विधियों के लिए कात्यायन ने वार्तिकों की श्रृंखला बनायी है। इन सभी वार्तिकों का खण्डन महाभाष्यकार ने यह कहकर किया है कि सूत्र में पर शब्द इष्टवाची है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

56. धर्मस्य चाव्यवच्छिन्नाः पन्थानो ये व्यवस्थिताः।
न ताँल्लोकप्रसिद्धत्वात् कश्चित् तर्केण बाधते।। वाक्य. 1.31
57. न जच्चा वसलो होति न जच्चा होति ब्राह्मणो।
कम्मुना वसलो होति कम्मुना होति ब्राह्मणो।। (सुत्तनिपात 31.27, उत्तराध्ययनसूत्र 25.33 भी देखें)
58. यदा द्वयेसु धम्मेसु पारगू होति ब्राह्मणो।
अथस्स सव्वे संयोगा अत्थं गच्छन्ति जानतो।। धम्मपद, ब्राह्मणवग्ग 384
59. धम्मपद, ब्राह्मणवर्ग (26), गाथासंख्या 383 से 423 तक।
60. ब्राह्मणत्वं न शास्त्रेण न संस्कारैर्न जातिभिः।
न कुलेन न वेदेन कर्मणा न भवेत्ततः ..... उक्तं हि–
निर्ममो निरहङ्कारो निःसङ्गो निष्परिग्रहः।
रागद्वेषविनिर्मुक्तस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः (13–14, पृ. 18)
61. चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम्।। 4.13
62. जैन आगम साहित्य को अंग, उपांग, मूल और छेद इन चार वर्गों में विभाजित किया गया है। (ततोऽङ्गोपाङ्गमूलाख्यग्रन्थच्छेदकृतागमः, प्रभावकचरितम्, आर्यरक्षितप्रबन्ध)
63. जायरुवं जहामट्ठं निद्धन्तमलपावगं।
रागद्दोसभयाईवं तं वयं बूम माहणं (उत्तराध्ययनसूत्र 25.21)
64. कोहा वा जइ वा हासा लोहा वा जइ वा भया।
मुसं न वयई जो उ तं वयं बूम माहणं।। (उत्तराध्ययनसूत्र 25.24)
65. जहा पोमं जले जायं नोवलिप्पइ वारिणा।
एवं अलित्तो कामेहिं तं वयं बूम माहणं (उत्तराध्ययनसूत्र 25.27)
66. न ओंकारेण बम्भणो (उत्तराध्ययनसूत्र 25.31ख)
67. स्वयंज्योतिः सदैवात्मा तथा वेदेऽपि पठ्यते। (शास्त्रार्थवार्तासमुच्चय 1.87)
68. वेदाङ्गो वेदविद्वेद्यो जातरूपो विदांवरः।
वेदवेद्यः स्वसंवेद्यो विवेदो वदतां वरः(जिनसहस्रनाम पञ्चम शतक, श्लोक सं.3)
69. सुसंवुडो पंचहिं संवरेहिं इह जीवियं अणवकंखमाणो।
वोसट्ठकाओ सुइचत्तदेहो महाजयं जयई जन्नसिट्ठं।। (उत्तराध्ययनसूत्र 12.42)
70. तवो जोई जीवो जोइठाणं जोगा सुया सरीरं कारिसंगं।
कम्म एहा संजमजोग सन्ती होमं हुणामी इसिणं पसत्थं।। (उत्तराध्ययनसूत्र 12.42)
71. अद्रोहः सर्वसत्त्वेषु यज्ञो यस्य दिने दिने।
स पुमान् दीक्षितात्मा स्यान्न त्वजादियमाशयः।। (उपासकाध्ययन 44.879)
72. उदा. के लिए दे.–
शुचौ चतुर्णां ज्वलतां हविर्भुजां शुचिस्मिता मध्यगता सुमध्यमा।
विजित्य नेत्रप्रतिघातिनीं प्रभामनन्यदृष्टिः सवितारमैक्षत।। (कुमारसम्भव 5.20)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

73. उदरे गार्हपत्याग्निं मध्यदेशे तु दक्षिणः। आस्य आहवनोऽग्निश्च सत्यः पर्वा च मूर्धनि यः पञ्चाग्नीनिमान् वेद आहिताग्निः स उच्यते (गरुडपुराण)
74. कामः क्रोधो मदो माया लोभश्चेत्यग्निपञ्चकम्।
येनेदं साधितं स स्यात् कृती पञ्चाग्निसाधकः (उपासकाध्ययन 40.871)
75. मद्यं मांसञ्च मत्स्यश्च मुद्रां मैथुनमेव च।
मकारपञ्चकं देवि देवताप्रीतिकारकम् (कुलार्णवतन्त्र 10.5), (महानिर्वाणतन्त्र 5.22)
76. व्योमपङ्कजनित्यत्वं सुधापानरतो भवेत्।
मद्यपानमिदं प्रोक्तमितरे मद्यपायिनः।।
77. पुण्यापुण्यं पशुं हत्वा ज्ञानखड्गेन योगिवत्।
परे लयं नयेच् चित्तं मांसाशी स निगद्यते।।
78. गङ्गायमुनयोर्मध्ये मत्स्यौ द्वौ चरतः सदा।
तौ मत्स्यौ भक्षयेद् यस्तु स भवेद् मत्स्यसाधकः।।
79. आशा तृष्णा महामुद्रा ब्रह्माग्नौ परिपाचिता।
ऋषयोऽश्नन्ति नियतं चतुर्थी सैव कीर्तिता।। (कलातन्त्र पटल 80)
80. सामरस्यहृतोल्लासं मैथुनं तत् सदाशिवम्।। (उपर्युक्त 5 उद्धरण श्रीरामशर्मा आचार्य लिखित तन्त्रमहाविज्ञान से 245–272 पृ.)
81. *"We drink the dripping liquid called bindu, the drop, not wine; we consume the rejection of the objects of five senses, not meat; we don't embrace a beloved but rather the Suṣumnā nāḍī, her body curved like kuśa grass; if we must have intercourse it takes place in a mind dissolved in the void] not in a vagina-"(James Mallinson, "The Original Gorakṣaśataka," in Yoga in Practice, ed- David Gordon White (Princeton and OÛford: Princeton University Press, 2011), 272-) [I am indebted to Dr. Anjali Duhan, Fellow& IIAS, for providing me this information.*
82. तान्त्रिक उपासना का सटीक वर्गीकरण उपासक भाव के अधिकार के अनुसार है। उपासना तीन प्रकार की मानी गयी है, पशु–भाव की, वीर–भाव की, और दिव्य–भाव की। 'पशु' का अर्थ है पाशों से बंधा हुआ"।.... इनके लिए लोक–निषिद्ध द्रव्यों (मद्य, मांस आदि) का पूजा द्रव्यों के रूप में प्रयोग सर्वथा वर्जित है। वे साधक 'वीर' कहलाते हैं जिन्होंने इन पाशों से मुक्ति पा ली है। इन्हीं को वीर–भाव से उपासना का अधिकार होता है, और इसी भाव की उपासना में 'पंच मकार', अर्थात् मद्य–मांस–मीन–मुद्रा–मैथुन के पञ्चक का प्रयोग विहित है। 'दिव्य' साधक वे होते हैं जिन्होंने द्रव्य को द्रव्यात्मकता से मुक्त कर लिया है और केवल आन्तरिक भाव से पूजा करने में समर्थ हैं। इनकी उपासन 'अन्तर्याग' या 'महायाग' कहलाती है। (प्रो. वागीश शुक्ल के सद्यः प्रकाशयमान लेख तान्त्रिक उपासना' से साभार)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

83. ईसाइयों द्वारा यहूदियों के ग्रन्थ को "पुराना नियम" (ओल्ड टेस्टमेंट) के रूप में ग्रहण करना और कुरान द्वारा मूसा तथा ईसा दोनों को इस्लाम का ही पैगम्बर मानना इस प्रवृत्ति का रोचक उदाहरण है।
84. देवद्विषां निगमवर्तमनि निष्ठितानां पूर्भिमेयेन विहिताभिरदृश्यतूर्भिः ।
लोकान् घ्नतां मतिविमोहमति प्रलोभं वेषं विधाय बहु भाष्यत औपधर्म्यम्।।
श्रीमद्भागवतम् 2.7.37
85. तीर्थेशामपि चक्रेशां हलिनामर्धचक्रिणाम्।
त्रिषष्टिलक्षणं वक्ष्ये पुराणं तद्द्विषामपि (जिनसेन, महापुराण1.20)
ध्यान रहे, यहाँ बलदेव, वासुदेव आदि व्यक्तिवाचक न होकर श्रेणी अथवा कोटियों (Catagories) के नाम हैं। 9 बलदेव, 9 वासुदेव तथा 9 प्रतिवासुदेव हमेशा ही समकालीन होते हैं। बलदेव तथा वासुदेव किसी एक ही राजा के भिन्न भिन्न रानियों के पुत्र होते हैं। वासुदेव अपने बड़े भाई बलदेव के साथ प्रतिवासुदेव के साथ युद्ध करते हैं जिसमें प्रतिवासुदेव का वध हो जाता है। इसके बाद वे भरत खण्ड के तीन खण्डों पर अधिकार करके अर्धचक्रवर्ती बन जाते हैं। वासुदेव प्रतिवासुदेव के वध के कारण नरक में जाते हैं। बलभद्र अपने भाई की मृत्यु के कारण शोकग्रस्त होकर संसार का परित्याग करते हैं तथा जैन शासन के अनुसार साधना करते हुए मोक्ष की प्राप्ति करते हैं।
86. मीमांसा तथा वेदान्त के सूत्रों में व्याख्या की सुविधा के अनुसार समान विषय वाले सूत्रों के खण्ड बना दिये जाते हैं। इन्हें ही अधिकरण कहा जाता है। इसकी परिभाषा है– विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्। प्रयोजनं संगतिश्च प्राञ्चोऽधकरणं विदुः (भाट्टदीपिका की टीका भाट्टचिन्तामणि, उ. पुरी 1943,2)
87. रामानुजाचार्य शंकराचार्य के विपरीत पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा (ब्रह्मसूत्र) दोनों को अलग शास्त्र न मानकर एक ही शास्त्र मानते हैं। दोनों शास्त्रों की एकता मानने से वे वेदान्तसूत्रों तथा मीमांसा सूत्रों के प्रयोजन, अधिकारी तथा जिज्ञास्य तीनों की एकता को स्वीकार कर पाते हैं, जो उनके भक्तिपरक वेदान्त के लिए आवश्यक है। (दे. अनन्तकृष्णशास्त्री अद्वैतमञ्जरी)
88. (आचार्य 1960,42), वैष्णव भाष्यकारों में अधिकरण भेद के लिए देखें (आचार्य 1960, 353–422)
89. 1. मतान्तरेण सूत्राणां पाठभेदाः। 2. एकस्य सूत्रस्य द्विधाकरणम्, 3. सूत्रद्वयस्य एकीकरणम्, 4. अतिरिक्तसूत्रग्रहणम्, 5. गृहीतसूत्रवर्जनम्, 6. सूत्रक्रमस्य विपर्ययः (पुरी 1943,85)
90. दो सूत्रों को एक मानने की सूची के लिए दे० (पुरी 1943, 268–271)
91. सूत्रविभाग की सूची के लिए दे. (पुरी 1943, 271–274)
92. सूत्रवर्जन के प्रसंगों के लिए दे. (पुरी 1943, 276–277)
93. पाठभेदों के संग्रह के लिए दे. (पुरी 1943, 241–267)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

94. सूत्रक्रमविपर्यय के लिए दे. (पुरी 1943, 277–278)
95. अतिरिक्त सूत्रों की सूची के लिए दे. (पुरी 1943, 274–275)
96. भाष्यकारों के प्रतिपाद अभिप्राय भेद के संकलन के लिए देखें – (पुरी 1943, 74दृ79)
97. पाणिनीयं महत् सुविहितम् (महाभाष्य–4.3.66)।
98. देखें महाभाष्य का आवर्ती वचन–"सिध्यत्येवं अपाणिनीयं तु भवति"।
99. उदाहरण के लिए–विभाषाऽपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या (अष्टा. 2.1.11) को महाभाष्यकार ने तोड़कर विभाषा को स्वतन्त्र सूत्र बनाया। इसे महाविभाषा कहते हैं और यह सूत्र समास के बाकी सभी सूत्रों में जाता है जिसके नाते समस्त पद के अतिरिक्त विग्रह वाक्य भी भाषा में मान्य हो जाते हैं। योगविभागों के विशद विवेचन के लिए देखें (पाढी, किशोरचन्द्र–पाणिनी यव्याकरणे योगविभागविमर्शः, भारतीय बुक कार्पोरेशन, 2001)
100. उदाहरण के लिए – लवणाट्ठञ् (4.4.52) सूत्र में लवण शब्द में न का ण के साथ प्रयोग किया गया है। इस ज्ञापक के माध्यम बिना किसी निमित्त के भी न का ण मान लिया जाता है। ज्ञापकों के लिए नागेश भट्ट का ज्ञापकसंग्रह द्रष्टव्य है।
101. किसी शब्द की दो बार आवृत्ति करना तन्त्र कहलाता है। जैसे हलन्त्य (अष्टा 1.3.3) सूत्र को दो बार आवृत्त माना जाता है।
102. अनुवृत्ति की विचित्रता से सूत्रों के अर्थ को विविध प्रकार से किया जाता है। उदाहरण के लिए अनचि च (अष्टा. 8.4.47) सूत्र में काशिकाकार स्थानिवत् की अनुवृत्ति लेते हैं जबकि कौमुदीकार न की अनुवृत्ति लेते हैं।
103. Torella (1987, 152)
104. निरुक्त प्रथम अध्याय।
105. 'हेतुर्निवचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः। परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना।।
उपमानं दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्य तु।।'
106. रेषणात् क्लेशराशीनाम् ऋषिमाहुर्मनीषिणः। (44.861क–ख)
107. अनूचानो विनीते स्यात् साङ्गवेदविचक्षणे। (विश्वप्रकाश 143ग–घ)
108. बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चित बुद्धिबोधात् त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रयशंकरत्वात्।
धातासि धीरशिवमार्गविधेर्विधानात् व्यक्तं त्वमेव भगवन् पुरुशोत्तमोऽसि।।
(भक्तामरस्तोत्र 25)
109. 'ये प्रकृत्यादयो जडा जीवाश्च गण्यन्ते, संख्यायन्ते तेषामीशः स्वामी पतिः पालको वा'। (सत्यार्थप्रकाश, प्रथम समुल्लास, पृ. 20)
110. यः सर्वं जगत् कर्तुं शक्नोति स शक्तिः। (तत्रैव)
111. यो लक्षयति पश्यत्यङ्कते चिह्नयति चराचरं जगदथवा वेदैराप्तैर्योगिभिश्च यो लक्ष्यते स लक्ष्मीः सर्वप्रियेश्वरः। (तत्रैव)
112. सरो विविधं ज्ञानं विद्यते यस्यां चित्ते सा सरस्वती। (सत्यार्थप्रकाश, प्रथम समुल्लास, पृ. 21)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

113. यो महतां देवः स महादेवः। (सत्यार्थप्रकाश, प्रथम समुल्लास, पृ. 23)

114. यः स्वयं भवति स स्वयम्भूरीश्वरः। (सत्यार्थप्रकाश, प्रथम समुल्लास, पृ. 24)

115. पत्नी दुहितरश्चौव पितरौ भ्रातरस्तथा। तत्सुता गोत्रजा बन्धुशिष्यसब्रह्मचारिणः एषामभावे पूर्वस्य धनभागुत्तरोत्तरः। स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्य सर्ववर्णेष्वयं विधिः (याज्ञवल्क्यस्मृति 2.135–136)

116. यद्यपि युगपदधिकरणवचनतायां द्वन्द्वस्मरणात् तदपवादत्वादेकशेषस्य धनग्रहणे पित्रोः क्रमो न प्रतीयते, तथापि विग्रहवाक्ये मातृशब्दस्य पूर्वनिपातादेकशेषाभावपक्षे च मातापितराविति मातृशब्दस्य पूर्व श्रवणात् पाठक्रमादेवार्थक्रमावगमात् धनसम्बन्धेऽपि क्रमापेक्षायां प्रतीतक्रमानुरोधेन एव प्रथमं माता धनभाक् तदभावे पितेति गम्यते। (मिताक्षरा 2.135–136, पृ. 278)

117. मिताक्षरा संस्करण के टिप्पणीकार नारायणराम आचार्य ने विभिन्न स्मृतिकारों के मतों को संकलित कर विज्ञानेश्वर से उनका विरोध स्पष्ट किया है–
व्यवहारमयूखेऽपि–दौहित्राभावे पिता तदभावे माता। तथा च कात्यायनः– अपुत्रस्याप्यकुलजा पत्नी दुहितरोऽपि तदभावे पिता माता भ्राता पुत्राः कीर्तिताः विष्णुश्च–अपुत्रधनं पत्न्यभिगामि, तदभावे दुहितृगामि, तदभावे दौहित्रगामि, तदभावे पितृगामि, तदभावे मातृगामि, तदभावे भ्रातृगामि, तदभावे भ्रातृपुत्रगामि, तदभावे सकुल्य– गामि इति। यत्तु विज्ञानेश्वरः द्वन्द्वापवादके पितरावित्येकशेषे क्रमप्रतीतावपि तदर्थबोधके विग्रहवाक्ये मातृ शब्दस्यपूर्वनिपातात् अपवाद्यद्वन्द्वात् क्रमानुसारात् पितुः पुत्रान्तरसाधारण्यात् मातुस्त्वसाधारण्याच्चादौ मातुस्तदभावे पितुर्धनग्रहणमूचे तदेतद्वचोविरोधादपास्तम्। (पृ. 243)

118. अप्रजस्स्त्रीधनं भर्तुर्ब्राह्मादिषु चतुर्ष्वपि।
दुहितृणां प्रसूता चेच्छेषु पितृगामि तत् 2.145

119. धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।। (मनुस्मृति 6.92)

120. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।, जातिदेशकालसमयानवच्छिन्ना सार्वभौमा महाव्रतम् (योगसूत्र 2.30–31)

121. अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे परे। अन्ये कलियुगे नॄणां युगह्रासानुरूपतः (मनुस्मृति 1.85), विधिर्योऽनुष्ठितः पूर्व क्रियते नैव साम्प्रतम् (स्मृतिचन्द्रिका 1.226, मुक्ता. 139, उ. धर्मकोश–v-ii, पृ.781), यश्च कार्तयुगो धर्मः न कर्तव्यः कलौ युगे। (स्मृतिचन्द्रिका 1.29, धर्मकोश–v-ii, पृ. 943), महाभारत शान्ति. 232.27, 261.8, पराशरस्मृति 1.22. (in'Kane 1946,892)

122. धर्म चाप्यसुखोदर्कं लोकविद्विष्टमेव च

123. वेदोऽखिलो 1 धर्ममूलं स्मृति2शीले3 च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनां 4 आत्मनस्तुष्टिरेव5 च (मनुस्मृति 2.6)

124. शर्मा (2018, 61)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

125. *"...Certain actions were discarded the wise though this was unauthorised (by sruti or smriti) after arriving at a convention among the mselves through fear of the loss of Dharma (if they were persisted in), because in the Kali age there is absence of good men." (Kane 1946,930)*
126. युगे युगे च ये धर्मास्तत्र तत्र च ये द्विजाः। तेषां निन्दा न कर्तव्या युगरूपा हि ते द्विजाः।। (पराशरस्मृति1.33, उ. धर्मकोश v-ii पृ.826)
127. युगधर्मः परिग्राह्यो वर्णैरेतैर्यथोचितम्।
 देशाचारास्तथा ग्राह्याः स्मृतिधर्माविरोधतः (नारदपुराण 1.24.11, उ. धर्मकोश v-ii, पृ. 904)
128. (Kane 1946, 964)
129. पुत्रविहीन मृत व्यक्ति की पत्नी का सम्बन्ध पति के भाई से कराकर पुत्र प्राप्ति को नियोग कहते हैं।
130. (Kane 1946, 938–939)
131. (Kane 1946, 939)
132. (Kane 1946, 927)
133. विशेष विवरण के लिए देखें–(Kane 1946, Chapter 34/885-968)
134. *The chapter on Kalivarjyas can be employed as a very effective answer to those who trot out the theory of the 'unchanging East'---This chapter on Kalivarjya unmistakably shows how the most authoritative dicta of the Veda and of ancient sages and law-givers were set aside and held to be of no binding authority because they ran counter to prevailing notions and furnishes a powerful weapon in the hands of those who want to introduce reforms in the incidents of marriage, inheritance and other matters touching modern Hindu society- (Kane 1946,967)*
135. तापाच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णमिव पण्डितैः।
 परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात्।। (शान्तरक्षितकृत तत्त्वसंग्रह)। अंगुत्तरनिकाय के केसमुत्तिसुत्तं अथवा कालामसुत्तं (3.65) में भी ऐसी ही बातें हैं। इसको बुद्ध के मुक्त चिन्तन के लिए प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।
136. विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु। (18.63)
137. ग्रन्थस्य यत्प्रचरतोऽस्य विनाशमेति लेख्याद् बहुश्रुतमुखाधिगमक्रमेण।
 यद्वा मया कुकृतमल्पमिहाकृतं वा कार्यं तदत्र विदुषा परिहृत्य राग।।
138. वृत्तौ भवं वार्तिकम्।
139. उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते।
 तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः।।
140. तु. अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेदवेक्षया।
 रक्षितं वर्धयेन्नित्यं वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत् (मनुस्मृति 7.100)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

141. त्रिपाठी (2018) में यत्र तत्र इस अवधारणा का खण्डन किया गया है।
142. त्रिपाठी (2018, 117–119) में पिछली शताब्दियों में उद्भूत पण्डितों की 7 कोटियों की पहचान की है। इसमें पहले (पारम्परिक पण्डित) को छोड़कर शेष सभी कोटियों अर्वाचीन काल में उद्भूत हैं। इससे पता चलता है कि ज्ञान परम्परा अपने वाहकों को विविध नये रूपों में आकर्षित कर रही है।
143. देखिये ऊपर, पृ.
144. "मैकॉले ने देश की शिक्षा व्यवस्था को व्यावसायिकता की जिस दौड़ में ढकेल दिया था, उसमें पलट कर देखना असम्भव हो गया। पण्डितों के मन में यह भय छाने लगा था कि अंग्रेजी शिक्षा उनके ज्ञान की सारी धरोहर को विस्थापित ही नहीं छिन्न भिन्न कर देगी। 18वीं शताब्दी तक पण्डित नयी टीकाएँ या ग्रन्थ लिखकर अपने ज्ञान के विस्तार और सृजन की सम्भावनाएँ साकार करते आ रहे थे, उनके लिए पुरानी पोथियाँ सँभाल कर रखना कठिन होता जा रहा था। अंग्रेज या युरोप के लोग इन्हें ले जा रहे थे। पण्डितों की अंग्रेजीदाँ सन्तानें या तो पुरानी पोथियों को अपने लिए बेकार मानकर उन्हें नष्ट हो जाने दे रही थीं, फेंक रही थीं, या विदेशियों के हाथों सौंप रही थीं। पण्डित को अपने ही घर में विस्थापित किया जा रहा था, अपनी विपन्नता में भी जिस सम्मान के बल पर वह ठाठ से रह सकता था, वह भी उससे छिनता जा रहा था।" (त्रिपाठी 2008, 143)
145. Michaels (2001, 3–16)
146. त्रिपाठी (2018, 130)
147. ...पूर्व व्याकरणशास्त्र एव न्यासपरिष्कारभेदेन भागद्वयं निर्माय सर्वेषां संस्कृतविदुषां दृष्टिपथमवतारितवान्। (पाणिनिव्याकरणे वादरत्नम् पृ. 1)
148. पाण्डेय (2006,278)
149. वही (280–281)
150. शुक्ल (2006, 214)
151. दे. शर्मा (2006, 125–134)
152. विशिष्ट विवरण के लिए देखें शर्मा (2006)
153. Tripathi (2016, 136)
154. *The Śāstra, even in its decadence, did not cease to the needs of society, though (as is inevitable with a traditional science) it was in style and approach that adjustments were made, rather than in substance Nineteenth century authors, from the front rank encyclopedists..., still look as their basic authorities works composed centuries before in answering current questions, with respectable results. "(Derret 1973, 6)*
155. न भार्यां ताडयेत् क्वापि मातृवत् पालयेत् सदा।
न त्यजेत् घोरकष्टेऽपि यदि साध्वी पतिव्रता।। महानिर्वाणतन्त्र, 8.39

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

156. त्रिपाठी (2018, 136)
157. सुप्रसिद्ध आलोचक राधावल्लभ त्रिपाठी ने संस्कृत साहित्य के विभागों को निम्नलिखित नाम दिये हैं – 1. उद्भवकाल (प्रागैतिहासिक काल से लेकर पहली सहस्राब्दी ईसापूर्व) 2. स्थापनाकाल (ईसापूर्व पहली सहस्राब्दी), 3. समृद्धिकाल (ईसा का 1200 वर्ष), 4. विस्तारकाल (1200 ई. से आजतक)। (त्रिपाठी 2007, 3)
158. सम्पूर्ण विवरण त्रिपाठी 2014 ख से।
159. त्रिपाठी 2018, 124)
160. विस्तृत विवेचन के लि, देखे शुक्ल, 2020,608–623)
161. त्रिपाठी 2018, 135
162. पार्जिटर की महत्त्वाकांक्षापूर्ण मान्यता तो यह है कि मत्स्य वायु तथा ब्रह्माण्ड पुराण मूलतः प्राकृत भाषा में थे बाद में उन्हें संस्कृत में किया गया। ऐसा मानने में उनके पास 6 तर्क हैं। दे. (Pargiter 1913, Introduction x) *"There are clear indications that the Sanskrit account as it exists in the Matsya, Vāyu, and Brahmā was originally in Prakrit, or, more accurately, that it is a Sanskritized version of older Prakrit ślokas. The indications are these: first, certain passages as they stand now in Sanskrit violate the śloka metre, whereas in Prakrit form they would comply with the metre; secondly, certain Prakrit words actually occur, especially where they are required by the metre, which the corresponding Sanskrit forms would violate; thirdly, Sanskrit words occur at times in defiance of syntax, whereas the corresponding Prakrit forms would make the construction correct; fourthly, mistaken Sanskritzations of names; fifthly, the copious use of expletive particles; and sixthly, irregular sandhi."*
163. यह बात तो शेल्डन पॉलक (2001,415) को भी माननी पड़ी है–
    "For one thing, Sanskrit literary culture was never affected by communicative incompetence, which began to enfeeble Latin from at least the ninth century. The process of vernacularization in India, in so many ways comparable to the European case, was nowhere a consequence of growing Sanskrit ignorance; the intellectuals who promoted the transformation, certainly in its most consequential phases, were themselves learned in Sanskrit."
164. संस्कृत सीखने की प्रक्रिया को सबसे बड़ा धक्का लोकभाषीकरण के दौरान नहीं बल्कि, औपनिवेशीकरण के दौरान अंग्रजीकरण के कारण लगा"। (राज कुमार 2014,584)
165. राज कुमार (2014,581)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

166. यह उक्ति सर्वत्र कबीरदास के नाम से प्रचलित तो है लेकिन प्रकाशित संस्करणों में यह प्राप्त नहीं होती।
167. दोहावली दो.सं. 572
168. रामायण के विकसित रूपान्तरणों के लिए बुल्के (1950) को देखा जा सकता है।
169. उपजीव्य ग्रन्थों के काव्यात्मक रूपान्तरण के अन्तर्गत तो रसानुकूल रूपान्तरण शास्त्रसम्मत है। दे. दशरूपक–यत्स्यादनुचितं वस्तु नायकस्य रसस्य वा। विरूद्धं तत् परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत्।।
170. स्वयं तुलसीदास का कहना है– नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि (बालकाण्ड)
171. म्हणोनि आइकें देवा। हा भावार्थ आता न बोलावा। मज विवेकु सांगावा। मर्हाटा जी (ज्ञानेश्वरी 3.17)
172. दे. पॉलक उद्धृत–राजकुमार (2014)
173. तीरे संस्कृताची गहने। तोडोनि मर्हाटिया शब्दसोपाने। रचिली धर्मनिधाने। निवृत्तीदेवे (ज्ञानेश्वरी 11.9)
174. उदाहरण के लिए श्री ओक ने ज्ञानेश्वरी के संस्कृत अनुवाद के बारे में यह चर्चा की है–सोऽयं निर्जरसा वाचा मया यत्नादनूद्यते। आराधनाय सर्वेषां गीताग्रन्थविमर्शिनाम् निवेदना पद्य 3 संस्कृतज्ञानेश्वरी पृ.
175. संस्कृत की अनुवाद परम्परा के लिए आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी के ग्रन्थ अनुवाद–शास्त्रम् तथा डॉ. नारायण दास की कृति द्रष्टव्य है।
176. http://sriramadesikan-com/
177. इस प्रकार के ग्रन्थों की सूचना आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी के अनुवादशास्त्रम् के नवम अध्याय में देखी जा सकती है।
178. Tripathi (2018,4)
179. पाण्डुलिपि संग्रहालयों के सम्पूर्ण विवरण के लिए देखें– https://wwwnamamigov-in/manuscript-resource-centres
180. https://www-ssvv-ac-in/about-library
181. Shastri (1930, iii-vi)
182. Krishnamacharya (1944, v-vi)
183. Rajgopalachar (1990, xi-xii)
184. खरे (1960)
185. विशेष विवरण (हाडा 2016)
186. Tripathi (2018,8)
187. विशेष विवरण के लिए देखें– http://ignca-gov-in/online-digital resources/manuscripts/
188. Sankrityayana (1938, 137-163)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

189. सम्पूर्ण विवरण के लिए देखें–https://web-archive-org/web/ 20190914070436/ http://www-cuts-ac-in/index-php?url=content/r1 तक
190. जैसे कि मैक्समूलर ने अपनी पत्नी जार्जिया को अपने ऋग्वेद के संस्करण के बारे में लिखा था – "मेरा पूरा विश्वास है कि ऋग्वेद का यह संस्करण और उसका अनुवाद आगे जाकर भारत की नियति को निर्धारित करेगा। यह उनके धर्म का मूल है.." (उ. त्रिपाठी 2014क, 51)
191. उदाहरण के लिए "गाँधी जी अपनी आत्मकथा में मैक्समूलर की पुस्तक ह्वाट इंडिया कैन टीच अस की सराहना की, जिसके माध्यम से उन्होंने हिन्दू धर्म के सौन्दर्य का अपने भीतर अनुभव किया।" (त्रिपाठी 2014क, 58)
192. इंटरनेट पर इस प्रकार की एक बड़ी साइट है– https://archive-org/। यहाँ ग्रन्थों को बिना शुल्क डाउनलोड किया जा सकता है। ऐसे प्रयासों और साइटों की संख्या दिन ब दिन बढ़ रही है।
193. ये ग्रन्थ निम्नलिखित संकेतों पर उपलब्ध हैं– https://archive-org/ details/ Bibliotheca_Indica_Series
194. https://adishila-com/fonts/
195. इन दोनों ग्रन्थावलियों के प्रायः सभी ग्रन्थ यहाँ उपलब्ध हैं–http://www-sanskritebooks-org/2011/08/complete-collection-of-kavyamala- series- of-books-of-nirnaya-sagar-press/
196. dharmadispatch-in/history/nirnayasagar-press-a-forgotten-national treasure
197. इस ग्रन्थावली के अधिकतर ग्रन्थ निम्नोक्त संकेत पर उपलब्ध हैं– https://archive-org/download/ Anandashram_ Samskrita_ Granthavali_ Anandashram_ Sanskrit_Series/
198. https://www-aanandashram&sanstha-org/
199. श्रीधर (2008, 177)
200. https://www-gitapress-org/an-introduction/
201. त्रिपाठी (2021, 119)
202. शर्मा (2018, 61)
203. Deshpande (2001, 131)
204. शर्मा (2018, 61)
205. उदाहरण के लिए महाभारत का यह श्लोक–यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः। नालमेकस्य तत् सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत्।। द्रोण 63/9 (पृथ्वी पर जितने धान, जौ, सोना, पशु, स्त्रियाँ हैं वह एक लोभी व्यक्ति के लिए पर्याप्त नहीं है, यह समझकर हमें शान्त हो जाना चाहिए।), इसे सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय, खण्ड 13, पृ. 232 पर देखा जा सकता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

206. *अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य अपरिग्रहः ।*
शरीरश्रम अस्वादः सर्वत्र भयवर्जनम् ।।
सर्वधर्मसमानत्वं स्वदेशी स्पर्शभावना ।
ह्येकादशभिः सेवाभिः नम्रत्वं व्रतनिश्चये (दे. त्रिपाठी 2019, 20)

207. *वर्मा (2001, 94)*

208. जैसा कि शेल्डन पॉलक ने कहा है– *"---by 1800, the capacity of Sanskrit thought to make history had vanished-" (Pollock 2001, 394)*

209. *"...If I were asked where the human mind has most fully developed some of its choicest gifts, has most deeply podered on the greatest problems of life and has found solutions of some of them which well deserve attention of even those who have studied Plato and kant, I should point to India... "(Maxmuller, Quoted in Tripathi 2012, 67)*

210. *मृगोष्ट्रखरमर्काखुसरीसृप्खगमक्षिकाः ।*
आत्मनः पुत्रवत्पश्येत् तैरेषामन्तरं कियत् ।। श्रीमद्भागवतम् 7.14.9

211. *शुक्ल (2006, 347)*

212. *वर्मा (2001, 51)*

213. *ईशावास्योपनिषद् 7.*

214. *वर्मा (2001, 85)*

215. *शर्मा (2018,65–66)*

216. *वर्मा (2001, 14)*

217. *यावद्भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनः ।*
अधिकं योऽभिन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति श्रीमद्भागवत 7.14.8

218. *न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।*
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ।। मनुस्मृति 2.49

219. *क) यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।*
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ।। (महाभारत)
ख) संतोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत् ।
संतोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः ।। (मनुस्मृति 4.12)

220. *ऋग्वेद 01.79.01*

221. *वर्मा (2001, 15)*

222. *वर्मा (2001, 56–57)*

सन्दर्भ ग्रंथ सूची –

1. *उपाध्याय, बलदेव. 1969. संस्कृत–शास्त्रों का इतिहास. काशीः शारदा मन्दिर.*
2. *Kane, P-V- 1946- History of Dharmashastra- Part 1- Poona: Bhandarkar Oriental Research Institute.*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

3. खरे. गणेश हरि. 1960. भारत– इतिहास– मण्डलस्थ– हस्तलिखित ग्रन्थानुक्रमणिका. पुणे : भारत, भारत–इतिहास–मण्डल.
4. त्रिपाठी, राधावल्लभ. (2018) "पण्डितों का संसार संसार में पण्डित". प्रतिमान (विकासशील समाज अध्ययन पीठ की अर्धवार्षिक पत्रिका) 2 : 111–148.
5. त्रिपाठी, राधावल्लभ. (2019) "गाँधी हमसे कितने दूर, हमारे कितने पास". हिमांजलि (भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला की अर्धवार्षिक पत्रिका) 2 : 17–21.
6. त्रिपाठी, राधावल्लभ. (2020) "तारानाथ तर्कवाचस्पति का जीवनचरित". मधुमती (राजस्थान साहित्य अकादमी, जयपुर की मासिक पत्रिका) जून : 107–135.
7. त्रिपाठी, राधावल्लभ. (2007–2009,) संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास. वाराणसी; विश्वविद्यालय प्रकाशन.
8. त्रिपाठी, राधावल्लभ. (2014) "फिर से नाट्यशास्त्र". प्रतिमान (विकासशील समाज अध्ययन पीठ की अर्धवार्षिक पत्रिका) 2: 511–532.
9. त्रिपाठी, राधावल्लभ. (2014क) "अथ मोक्षमूलरकथा". नया ज्ञानोदय (भारतीय ज्ञानपीठ की मासिक पत्रिका) दिसम्बर : 49–60.
10. त्रिपाठी, राधावल्लभ. (2014ख) "संस्कृत साहित्ययात्रा–इक्कीसवीं शताब्दी की ओर". समकालीन भारतीय साहित्य (साहित्य अकादमी की द्वैमासिक पत्रिका) जनवरी–फरवरी
11. *Torrella] Raffele (1987) Examples of the Influence of Sanskrit Grammar on Indian Philosophy- East and West 37- (Pp) 151-164-*
12. *Derret] J-D-M-1973- Dharmaśāstra and Juridical Literature in A History of Indian Literature- Part of vol- V (ed- Jan Gonda) : 2-79-*
13. *Pollock, Sheldon- 2006- The Language of the Gods in the World of Men- Delhi: Permanent Black-*
14. *Pollock, Sheldon-2001-ÞThe Death of Sanskritß in Comparative Studies in Society and History- Vol-43- No- 2 : 392-426*
15. पुरी, चिद्घनानन्द.1943. ब्रह्मसूत्रभाष्यनिर्णयः. काशी श्रीरामकृष्ण सेवाश्रम.
16. राज कुमार. 2014 "क्या अनुवाद की कोई भारतीय पद्धति थी?". प्रतिमान (विकासशील समाज अध्ययन पीठ की अर्धवार्षिक पत्रिका) में 2 : 581–590.
17. *Rajagopalachar, K-1990-Descriptive Catalogue of Sanskrit Manuscripts- Mysore : Oriental Research Institute, University of Mysore-*
18. वर्मा, निर्मल. 1981. भारत और यूरोप : प्रतिश्रुति के क्षेत्र. नई दिल्ली राजकमल प्रकाशन.
19. वर्मा, निर्मल. 2001. आदि, अन्त और आरम्भ. नई दिल्ली राजकमल प्रकाशन.
20. शर्मा, अम्बिकादत्त. 2006. "यशदेवशल्य के दर्शन में तत्त्वमीमांसा का औचित्य". भारतीय दर्शन के 50 वर्ष में. अम्बिकादत्त शर्मा (सं.). 125– 134. सागरः विश्वविद्यालय प्रकाशन.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

21. शर्मा, अम्बिकादत्त. 2018. "भारतीयमानस का वि–औपनिवेशीकरण" प्रतिमान (जुलाई–दिसम्बर 2018), 53–68 दिल्ली : विकासशील समाज अध्ययन पीठ.

22. *Shasri, P-P-S- 1930- A Descriptive Catalogue of Sanskrit Manuscripts in the Tanjore Maharaja Sarfoji's Saraswati Mahal Library- Shrirangam : Sri Vani Vilas Press-*

23. शुक्ल, बलराम.2020. "छन्दःसमीक्षागत लक्षणों की नवीनता एवं उसके निहितार्थ". सारस्वतसाधना के आयाम (आचार्य गोकुलप्रसाद त्रिपाठी स्मृति ग्रन्थ) में. (सं.) राधावल्लभ त्रिपाठी. 608–623. दिल्ली : न्यू भारतीय बुक कॉर्पोरेशन.

24. शुक्ल, संजय. 2006. "अनुप्रयुक्त नीतिशास्त्र". भारतीय दर्शन के 50 वर्ष में. अम्बिकादत्त शर्मा (सं.). 341–360. सागर : विश्वविद्यालय प्रकाशन.

25. श्रीधर, विजयदत्त. 2008. भारतीय पत्रकारिता कोश. दिल्ली : वाणी प्रकाशन.

26. *Sankrityayana, Rahula-1938- 'Search for Sanskrit MSS-In Tibet.' In Journal of the Bihar and Orissa Research Society- Vol-XXIV Part IV- 137-163.*

27. हाडा, माधव. 2016. मुनि जिनविजय. दिल्ली, साहित्य अकादमी.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दर्शन का स्वरूप, विषय, प्रयोजन और इसकी उपयोगिता

देवेन्द्र नाथ तिवारी

1. समस्या :–

सभ्यता के आरम्भ से ही दर्शन उच्चतम ज्ञान प्राप्ति का एक अभिलषित अनुशासन रहा है। किसी सम्प्रत्यय सम्बन्धी समस्याओं को दूर करने, उन्हें स्पष्ट करने हेतु अवधारणाओं सम्बन्धी मानवीय अनुसंधानों, शिक्षण और अध्ययनों में इसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है। अपने विचार–तन्त्र अथवा विचारों के संविधान की वासना, लगाव और रूचि को लेकर दार्शनिकों ने भिन्न–भिन्न रूपों में इसे परिभाषित किया है। इन्हीं कारणों से आगे आने वाले दार्शनिकों ने अपने पूर्ववर्ती दार्शनिकों के मतों की आलोचना एवं समीक्षा की हैं जिसे लेकर दर्शन का इतिहास बनता है। सहमति की स्थिति तक पहुँचने की दृष्टि से दर्शनशास्त्र और इसकी उपयोगिता विषय पर प्रसिद्ध मतों की विवेचना हम नीचे करेंगे। इस आलेख में दर्शनशास्त्र की समस्या, क्षेत्र या विषय, विधि, उद्देश्य और उपयोगिता का सही दिशा में विश्लेषण और निर्णय करने का प्रयास उस रूप में किया गया है जिस रूप में हमें उसका बोध होता है। दर्शन क्या है?इसे समझने के लिए हमने कई एक स्थलों पर पहले यह बताने की कोशिश की है कि दर्शन क्या नहीं है। जब हम यह समझ लेते हैं कि दर्शन क्या नहीं है तब हमारे लिए यह समझना आसान हो जाता है कि दर्शन क्या है ?

2. दार्शनिक अनुचिन्तन में बुद्धि और ज्ञान :–

मानवीय चेतना स्व–चेतना है। स्व–चेतन होने के कारण ही मानव को बौद्धिक प्राणी कहा जाता है। स्व–चेतन का तात्पर्य है कि चेतना विषयों को प्रकाशित करती है और प्रत्येक विषय को प्रकाशित करते हुये यह उसकी स्व–चेतना भी होती है जिसके कारण हम 'विषयों के बोध' और

उन्मीलन – वर्ष 35, अंक 2, जुलाई–दिसम्बर 2021
ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'विषयों के बोध की स्व–चेतना' में अन्तर करते हैं। बोध या ज्ञान में परत्व या विषयत्व नहीं होता जबकि जो बोध के विषय होते हैं वे दूसरे बोध के विषय भी बन सकते हैं। परत्व बोध के विषयों का लक्षण है।

मानवीय बुद्धि प्रकाशित होने वाली चेतना है और जो कुछ विषय यह प्रकाशित करती है उसी को लेकर यह स्व–चेतन होती है तथा चिन्तन और अनुचिन्तन संभव हो पाता है। जिन विषयों को बुद्धि प्रकाशित करती है वे बुद्धिगम्य विषय हैं और हम उन्हें ही जानते हैं। हमारा ज्ञान इन बुद्धि प्रकाशित विषयों अर्थात् उन विचारों तक ही सीमित है जिसे बुद्धि प्रकाशित करती है। इस दृष्टि की उपेक्षा कर प्रायः बुद्धि को एक प्रदत्त विचारों का तन्त्र, एक मशीन जो ज्ञान का उत्पादन करती है, एक विचारों की पोटली या एक ऐसा निकाय जो अपनी प्रदत्त वर्गणाओं और इन्द्रियानुभव के आधार पर ज्ञान उत्पन्न करती है, इन रूपों में भिन्न–भिन्न प्रकार से समझा जाता है। स्व–चेतन प्राणी के रूप में मानव पर ध्यान केन्द्रित करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि बुद्धि ज्ञान उत्पन्न करने की कोई मशीन नहीं है, यह ज्ञान का निर्माण करने वाला कोई कारखाना नहीं है और न ही ज्ञान कोई उत्पाद है। बुद्धि जैसा कि हम समझते हैं एक प्रकाशित होने वाली चेतना है। प्रकाश्य विषय चेतना के प्रकाश हैं, वे विचार या बोध–सत्ता हैं। यह सदैव वर्तमान में ही प्रकाशित होता है। बुद्धि के प्रकाश सदैव नवीन होते हैं और कोई प्रकाश युगपद् प्रकाशित नहीं होता है। स्व–चेतन के प्रकाश के साथ–साथ होने की क्रियाओं वाला स्वरूप कुछ इस तरह का होता है कि यह हमेशा वर्तमान में ही प्रकाशित होता है और अगले प्रकाश के प्रकाशित होने पर अतीत या भूत हो जाता है, वह स्मृति का विषय या स्मृति का भाग बन जाता है। चूँकि मानव स्व–चेतन होता है और इस कारण स्मृति मस्तिष्क का अंग बन जाती है। एक बार प्रकाशित होने या अनेक बार प्रकाशित होने में ही बुद्धि समाप्त नहीं हो जाती है क्योंकि इसका स्वभाव ही है प्रकाशित होना। यहाँ तक कि स्मृति का ज्ञान स्मृति के रूप में तभी होता है जब वह वर्तमान में प्रकाशित होती है। जिन विषयों को बुद्धि प्रकाशित करती है उन्हें हम बोध रूप, बौद्धिक या बोध्य– सत्ता कहते हैं। स्व–चेतन होने के कारण ही मानव एक अनुचिन्तन करने वाला प्राणी है। अनुचिन्तन एक विरले बुद्धि की आकस्मिक क्रिया है। जब बुद्धि किसी समस्या से टकराती है तो उस समस्या के समाधान के लिये उस पर अनुचिन्तन करती है। दर्शनशास्त्र का सम्बन्ध चित्तस्वरूप बोध–विषयों से है; यह उत्कृष्ट संज्ञानात्मक या बोध–प्रक्रिया है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

किसी समस्या से टकराने वाली बुद्धि की बौद्धिक भूख की सन्तुष्टि के लिये दार्शनिक अनुचिन्तन की आवश्यकता होती है। कोई भी समस्या अपने लिये समस्या नहीं होती है। सभी समस्याएँ जिनसे बुद्धि टकराती है वैचारिक होती है। यही कारण है कि किसी अनुशासन से सम्बन्धित समस्याओं की स्पष्टता, सम्प्रत्यय और विवेक के लिये विश्लेषण, स्पष्टीकरण और उसका समाधान देने के लिये हम दार्शनिक चिन्तन या अनुचिन्तन करते हैं। 'दर्शन का दर्शन नहीं होता है' क्योंकि उन दर्शनों और दूसरे अनुशासनों की समस्याओं पर जो हम अनुचिन्तन करते हैं वह भी दर्शन ही होता है। ज्ञान पर अनुचिन्तन की आवश्यकता होती है क्योंकि बुद्धि में प्रकाशित ज्ञान ही हमें क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये से सम्बन्धित हमारे कर्त्तव्यों की प्रेरणा का कारण होता है। अगर ये प्रकाशित विचार हमारी इच्छाओं, रुचियों और अभिप्रायों पर जो कि हर व्यक्ति में पृथक्–पृथक् हो सकती है, आरोपित होती है तो कर्त्तव्य की वास्तविक प्रेरणा से भटक जाती है। वास्तविक प्रेरणा तो वास्तविक ज्ञान से होती है न कि रुचियों और अभिप्रायों पर इसके आरोपण से। ये कुछ कारण हैं जो किसी भी वैज्ञानिक सिद्धान्त के ऐसे दावे को आधारहीन, भ्रामक और सम्राज्यवादी सिद्ध करता है और अस्वीकार करता है कि हमारा समस्त ज्ञान वैज्ञानिक ज्ञान तक सीमित है, क्योंकि उसे हम इन्द्रियानुभव से निरीक्षण–परीक्षण कर सकते हैं और वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा सिद्ध कर सकते हैं और इसीलिये ज्ञान के अध्ययन के लिये दर्शनशास्त्र की आवश्यकता नहीं है।

3. दर्शन का व्युत्पतिमूलक अर्थ :–

सामान्यरूप से, संस्कृत पद "दर्शन" को अंग्रेजी के "फिलॉसफी" पद के पर्याय के रूप में लिया जाता है। "फिलॉसफी" शब्द ग्रीक पदों 'फिलॉस' (प्रेम) और 'सोफिया' (प्रज्ञा या ज्ञान) से बना है जिसका अर्थ है– 'ज्ञान के प्रति प्रेम' या' ज्ञानानुराग'। संस्कृत का "दर्शन" पद 'दृश' धातु से बना है जिसका अर्थ है– दृष्टि, अन्र्तदृष्टि का होना, अनुभव करना, प्रत्यक्ष होना, देखना, निरीक्षण करना, जाँच पड़ताल करना इत्यादि। प्रत्यक्ष करने या देखने का कार्य इन्द्रियों के द्वारा होता है और प्रत्येक इन्द्रियाँ अपने ही विषय का प्रत्यक्ष करती हैं क्योंकि उन विषयों के प्रत्यक्ष के लिये ही वह नैसर्गिक रूप से सक्षम होती हैं। (आँख रूप को, कान ध्वनि (शब्द को), घ्राण गंध को, जिह्वा स्वाद को, त्वचा स्पर्श को ही ग्रहण कर सकती है न कि एक दूसरे के विषयों को). साधारण मनुष्य के लिये देखना इन्द्रियों के विषय बाह्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वस्तुओं के प्रत्यक्ष तक ही सीमित होता है। दार्शनिक का देखना विचारों के देखने से सम्बन्धित है। वे विचारों को देखते हैं और ज्ञान के स्पष्ट तथा निश्चयात्मक–बोध के लिये उन पर अनुचिन्तन करते हैं। ज्ञान प्रकाश है, यह जीवन का दिशा–निर्देशक और व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह की क्रियाओं का प्रेरक है। अगर विचार विशेषीकृत और स्पष्ट नहीं हुआ तो निर्देशन का कार्य नहीं कर सकेगा और जीवन की क्रियाओं के लिये उचित प्रेरणा भी नहीं देगा। ज्ञान सत् है और इसके बारे में कोई भ्रम होने या अज्ञानता की स्थिति में हम स्पष्ट सम्प्रत्यय के लिये ज्ञान के विषयों पर अनुचिन्तन करते हैं। इस उत्कृष्ट बौद्धिक क्रिया के लिये पाश्चात्य परम्परा में "फिलॉसफी" और प्राच्य परम्परा में "दर्शन" पद का प्रयोग होता है। दोनों परम्पराएँ ज्ञानानुरागी हैं वे ज्ञान का विश्लेषण करती हैं, अनुचिन्तन करती हैं और सर्वोच्च मूल्य के रूप में उसकी व्याख्या करती हैं। विवेक को समझने समझाने के भिन्न–भिन्न पद्धतियाँ होने के बावजूद दोनों परम्पराएँ अनुचिन्तन की क्रिया करती हैं और ज्ञान का अनुसंधान करती हैं क्योंकि ज्ञान प्राप्ति से आनन्द की उपलब्धि होती है। ज्ञान सदैव निश्चित होता है और यह निश्चयात्मकता ज्ञान की भाषानुविद्धता के बिना सम्भव नहीं है।

सामान्यतः दो तरह के अतिवादी परन्तु प्रचलित विचार पाये जाते हैं। प्रथम समूह के अनुसार वर्तमान भौतिकवादी युग (बाजारवादी युग) में दर्शन का अपना कोई भविष्य नहीं है क्योंकि सीधी बात यह है कि हमारी भौतिक इच्छाओं और आवश्यकताओं की सन्तुष्टि इससे नहीं हो सकती है। दूसरे समूह का विचार है कि भौतिकवादी सोच ने मानसिक शान्ति को नष्ट कर दिया है और मानव जीवन को तबाह कर दिया है। इसलिये सरल और संघटित उपाय के रूप में योग, नैतिकता और आध्यात्मिकता को दर्शन का भविष्य होना चाहिये। पहले वाले समूह का विचार मानसिक शान्ति और सामंजस्य को महत्त्व नहीं देता जबकि दूसरे समूह का विचार व्यवहार की सुगठित प्रक्रिया से सम्बन्धित होने से विचारों की सम्पन्नता और उनकी बेहतरी को महत्त्व नहीं देता। पहले वाले समूह का विचार एक पूर्वानुमान (प्रिडिक्शन्) है जिसमें अन्तर्दृष्टि का अभाव है जबकि दूसरा व्यवहार (प्रैक्टिस) समूह है जिसमें दार्शनिक रुचि का अभाव है।

प्रायः हम जगत् और जगत् के परे की चीजों को दो तरह से देखते हैं– या तो वह पूर्ण (सिद्ध) होती है या अपूर्ण ,असिद्ध यानी सिद्ध होने की प्रक्रिया। पहले दृष्टिकोण से हम सभी वस्तुओं के लिये संज्ञा का प्रयोग करते

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हैं या सर्वनाम से संकेतित करते हैं। दूसरा दृष्टिकोण असिद्ध पदार्थ है जिसके लिये हम 'क्रिया' शब्द का प्रयोग करते हैं। पहला दृष्टिकोण तत्त्वदर्शियों का होता है जो अनुभवातीत सत्ता में विश्वास करते हैं और उन अनुभववादियों का भी होता है जो इन्द्रियातीत तत्त्वों का खण्डन करते हैं। पहले दृष्टिकोण के अनुसार तत्त्वमीमांसक एक ऐसे तन्त्र को बनाते हैं जिसमें क्रिया या सर्जना को गुण के रूप में या तो अनुभवातीत पदार्थों के गुण के रूप में या तत्त्वों की सर्जना–रूप से तत्त्वमीमांसीय पदार्थों पर निर्भर मानते हैं। पुनः वे गुण को या तो सत् मानते हैं या सत् की प्रतीति मानते हैं। इसी तरह जो लोग सर्जना को वास्तविक सूत्र मानते हैं वे लोग भी सर्जनात्मक सत्ता की ठीक वैसी ही व्याख्या करते हैं जैसा कि पहले वाले पक्ष के तत्त्वमीमांसक व्याख्या करते हैं, अर्थात् सिद्ध पदार्थ की तरह व्याख्या करते हैं। जो लोग सत्ता को स्थिर या विराम मानते हैं वे लोग गति को विराम का ही क्रियाशील विकार मानते हैं। अर्थात् गति या सर्जना विराम से आती हैं इसके विपरीत जो लोग सत्ता को क्रियाशील मानते हैं वे विराम को अल्पतम क्रिया स्वीकार करते हैं।

एक दूसरा तत्त्वमीमांसीय मत भी सत्ता सम्बन्धी चिन्तन के इतिहास में बहुत महत्त्वपूर्ण है वह यह कि जो सत् है वह वाणी से परे है। गति और विराम, व्यक्ति और जाति जिन्हें हम जानते हैं वह मात्र व्याख्या सापेक्ष या आरोपण, प्रक्षेपण या सत्ता पर आरोपित होते हैं। हेगल जैसे सत्तामीमांसीय तत्त्वमीमांसा के विरुद्ध तर्क देते हैं कि यह अपने निर्माण और विचारों या सम्प्रत्ययों के ज्ञान में ही समाप्त हो जाती है। परिभाषा के अनुसार ज्ञेय पदार्थ स्पष्ट होते हैं। क्या चेतना और इसी तरह ज्ञान इस परिधि में आते हैं? अगर नहीं तो प्रश्न उठता है कि क्या चेतना ज्ञाता है? ज्ञाता ज्ञेय के सापेक्ष होता है क्योंकि किसी ज्ञेय के ज्ञान के सापेक्ष ही कोई ज्ञाता होता है। यदि यह (चेतना) न ज्ञेय है और न ज्ञाता है तो हम इसके अस्तित्त्व को कैसे स्वीकार करेंगे? ज्ञान विषय नहीं बनता ज्ञान का विषय बनना ज्ञेय का गुण है। जो ज्ञेय हम जानते हैं उसका गुण है विषय बनना और इस तरह ज्ञान ज्ञेय की चेतना के बोध का स्व–बोध होता है (विषय के बोध में चेतना का बोध लगा रहता है।)। उपनिषद् कहते हैं कि चेतना न तो ज्ञाता है न ज्ञेय है अपितु ज्ञाता की स्व–चेतना या ज्ञान है, इसका स्वरूप नहीं बदलता है। "द्रष्टा की दृष्टि का कभी लोप (नाश) नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है।"[1] इस तरह यह स्पष्ट है कि स्वचेतना न विषय है न विषयी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। इसीलिये यह कोई प्रमेय अर्थात् ज्ञान के स्रोतों द्वारा जानने योग्य ज्ञेय वस्तु या विषय नहीं है। जो भी स्वचेतना का विषय होता है वह ज्ञेय है। ऐसे दार्शनिक जो ज्ञान को आनुभविक ज्ञान तक ही सीमित मानते हैं वे इन्द्रियातीत तत्त्वमीमांसा का खण्डन करते हैं परन्तु अनुभव पर आधारित तत्त्वमीमांसा का एक रूप प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार तत्त्व के बारे में कोई भी कथन तब तक सत्य नहीं होता जब तक आनुभविक जगत् में उनके संवादी वस्तुओं के आधार पर उसका सत्यापन नहीं हो जाता। मेरा मानना है कि तत्त्वमीमांसा तत्त्वमीमांसा होती है और अनुभव पर आधारित तत्त्वमीमांसा तथा अनुभवातीत की तत्त्वमीमांसा का भेद कर देने से किसी दार्शनिक उत्कर्ष की प्राप्ति नहीं होती। अनुभववादियों के अनुसार ज्ञान आनुभविक है और वैज्ञानिक निरीक्षण, परीक्षण और सत्यापन पर आधारित होता है। बहरहाल यह मत दर्शन के भविष्य के प्रति प्रश्न उपस्थापित करता है कि यदि सभी ज्ञान वैज्ञानिक ज्ञान है तो दर्शन की कोई आवश्यकता नहीं है। अब इन समस्याओं के एक–एक बिन्दु पर हम विचार करेंगे।

4. चिन्तन और अनुचिन्तन :–

दर्शनशास्त्र सम्प्रत्ययों की समझ से सम्बन्धित समस्याओं पर अनुचिन्तन का शास्त्र है। इस शास्त्र में जो प्रशिक्षित होते हैं वे बेहतर तरीके से जानते हैं कि सम्प्रत्यय और सम्प्रत्यय के सिद्धान्तीकरण में भेद है। सम्प्रत्यय सर्वगत होते हैं। वक्ता और श्रोता के बीच एकक बोध पर हमारा व्यवहार आधारित होता है और ऐसा सम्भव होने का कारण यह है कि वक्ता और श्रोता दोनों में सम्प्रत्यय का प्रकाश होता है। वक्ता में बोलने के पहले और श्रोता में सुनने के बाद सम्प्रत्यय का प्रकाश होता है। किन्तु, सम्प्रत्यय की अवधारणात्मकता में ऐसी बात नहीं भी हो सकती है। अवधारणाएँ सर्वगत नहीं भी हो सकती हैं। व्यक्तियों के सांस्कृतिक वासनाओं, अभिव्यक्तियों और उनके अवधान (अटेंशन) के भेद से ये बनती हैं। हम एक ही सम्प्रत्यय की अनेक अवधारणाएँ बनाते हैं अर्थात् उसी सम्प्रत्यय से भिन्न–भिन्न सैद्धान्तिक अवधारणाएँ बना दी जाती हैं। दृष्टान्त के लिये 'मनुष्य का सम्प्रत्यय' तो वही है किन्तु, शङ्कराचार्य, रामानुज, श्रीअरविन्द, टैगोर और विवेकानन्द की मनुष्य सम्बन्धी अवधारणाएँ एक–दूसरे से भिन्न हो जाती हैं। जो भी हो अगर वक्ता और श्रोता दोनों की अवधारणाएँ अभिन्न हैं अथवा दोनों में समान सम्प्रत्यय प्रकाशित होते हैं तो परस्पर समझ, भागीदारी और संवाद सम्भव होगा। सम्प्रत्यय में संवादिता होती है। जब हम

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अपनी वासना में रंगकर इसे ध्वनियों और लिपियों द्वारा व्यक्त करते हैं तो संवादिता परिवर्तित हो जाती है या व्यवहार में प्रसिद्ध सम्प्रत्यय से भटकाव व्यवहार को बाधित करता है या व्यवहार नहीं हो पाता है। सम्प्रत्यय स्वरूपतः सामान्य (जाति) होते हैं। किसी एक जाति से सम्बन्धित सारे व्यक्ति उस जाति विशेष के आश्रय में होते हैं और वे उस सामान्य को अभिव्यक्त करते हैं जिसके कारण (भाषा से) एकक बोध होता है। जाति को अभिव्यक्त करने के लिये हम ध्वनियों, लिपियों अर्थात् व्यक्तियों (individuals) का उपयोग करते हैं और व्यक्तियों की वासना में ही सम्प्रत्यय को व्यक्त करते हैं जिसके कारण किसी भी सम्प्रत्यय से भिन्न प्रकार की अवधारणाएँ बनती हैं। इसलिये पहले हम चिन्तन और अनुचिन्तन के स्वरूपगत दृष्टिकोण को स्पष्ट करेंगे।

चिन्तन और अनुचिन्तन में भेद है। सभी तन्त्रों में चिन्तन होता हैं किन्तु इस या उस चिन्तन में या विचारधारा से जो समस्याएँ उत्पन्न होती हैं उस पर हम अनुचिन्तन करते हैं जिसे हम दर्शन या दार्शनिक क्रिया कहते हैं। दूसरे तन्त्र अवधारणाओं पर सोचते हैं जबकि दर्शनशास्त्र उन अवधारणाओं के प्रत्ययीकरण में जो समस्याएँ उत्पन्न होती है उस पर अनुचिन्तन करता है ताकि सम्प्रत्यय के बारे में स्पष्टता और विवेक प्राप्त हो सके। प्राचीनता और आधुनिकता से संग्रहित सूचनाओं के अनुपात में हमारा चिन्तन प्रत्ययीकरण को समृद्ध कराता है। विभिन्न तन्त्रों पर चिन्तन से जो नवीन अवधारणा बनती है उनसे हमारी अवधारणात्मक चिन्तन पूर्ण होती है। जो विद्वान् इस तरह की क्रिया करते हैं उन्हें हम सम्प्रत्यय पर चिन्तन का विशेषज्ञ या दार्शनिक भी कह देते हैं। दार्शनिकीकरण के नाम पर बहुत सारे विद्वान् ऐसी ही क्रिया करते रहे हैं लेकिन इस तरह के रूढ़िबद्ध चिन्तन तक ही दर्शनशास्त्र सीमित नहीं है। यह उच्चकोटि की बोधमूलक क्रिया इस अर्थ में है कि दार्शनिक अनुचिन्तन में दार्शनिक चिन्तन या सम्प्रत्यय के अवधारीकरण में जो समस्याएँ उत्पन्न होती हैं उनके प्रति दार्शनिक स्व-चेतन क्रिया करता है। वह जिन समस्याओं से टकराता है उनके प्रति चेतन होता है, उन समस्याओं के साथ प्रतिक्रिया करता है, विश्लेषण और स्वचेतनात्मक संवाद, अनुचिंतन करता है और यह प्रक्रिया तब समाप्त होता है जब अनुचिन्तन द्वारा समस्या स्पष्ट हो जाती है। संक्षेप में, किसी चिन्तन में कोई न कोई समस्या-बोध के विश्लेषण से उत्पन्न संशय से अनुचिन्तन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आरम्भ होता है और जब समस्या समाप्त हो जाती है अथवा समस्या का समाधान प्रकाशित हो जाता है तब स्वचेतनात्मक क्रिया (अनुचिन्तन) उस समस्या से मुक्त हो जाती है।

मनुष्य अपनी दुनिया के चारों ओर परीक्षण और अवलोकन करता है, सोचता है तथा चिन्तन करता है। उसके विचार शारीरिक, मनोवैज्ञानिक, तार्किक, सृष्टिमीमांसीय, सत्तामीमांसीय, तत्त्वमीमांसीय, ज्ञानमीमांसीय, मूल्यमीमांसीय आदि कोटियों से सम्बन्धित हो सकते हैं। इन सभी कोटियों से सम्बन्धित चिन्तन दर्शन के अन्तर्गत मानें जा सकते हैं क्योंकि उनके भी विषय समस्या के रूप में दार्शनिक अनुचिन्तन के विषय बनते हैं। जब बुद्धि स्व–चेतन होतीं है या बिना किसी माध्यम के साक्षात् स्वयं पर अनुचिन्तन करती है तब उसे विषयी–परक अनुचिन्तन कहते हैं और जब यह स्वयं अपनी तरफ न मुड़कर विषयों जिनसे ये टकराती है उनको विषय करके चिन्तन करती है तो वह वस्तुगत–अनुचिन्तन होता है। सभी विचार, मत और सिद्धान्त दार्शनिक चिन्तन, अनुचिन्तन के विषय के रूप में ही संगत होते हैं और इस तरह से हम कह सकते हैं कि दर्शन अनुचिन्तनात्मक बोध है। बहरहाल हम यह नहीं कह सकते कि यह अनुचिन्तन दर्शन–मीमांसा (मेटाफिलासफी) या दर्शनों का दर्शन है क्योंकि वे भी दार्शनिक अनुचिन्तन के विषय बनते हैं। अर्थात् वह भी दार्शनिक अनुचिन्तन ही होते हैं। इस तरह ज्ञान का ज्ञान, आत्मा की आत्मा और उसी प्रकार दर्शनों का दर्शन नहीं होता, क्योंकि दर्शनों पर दार्शनिक अनुचिन्तन भी दर्शन ही होता है।

5. भाषा, विचार और सत् :–

अधिकतम दार्शनिक समस्याएँ इस गलत अवधारणा से उत्पन्न होती हैं कि भाषा, विचार और सत् एक–दूसरे से निरपेक्ष हैं। विचारों को भी हम कुछ सिद्धान्तों में बौद्धिक और कुछ को आध्यात्मिक मानकर भेद करते हैं जिसमें आध्यात्मिक दर्शन–सम्प्रदायों के द्वारा बौद्धिक विचारों को अलग किया जाता है।. इसी प्रकार कुछ चिन्तक सत् को भौतिक मानते हैं, कुछ आध्यात्मिक मानते हैं; जबकि इनमें से अधिकांशतः भाषा को भाषीय मानते हैं। भौतिकवादी भाषा को सत् का संकेतक, सन्दर्भ या प्रतिनिधि मानते हैं। सिद्धान्ती लोग सत् को तात्त्विक, भौतिक, आनुभविक, तार्किक, आभासिक, प्रकाशित और अनेकों प्रकारों से बताते हैं। प्रतिनिधि सिद्धान्त में भाषा, विचार और सत् का त्रयी इस तरह से बताया गया है कि वह यान्त्रिक लगता है। हम बाह्य सत् का प्रत्यक्ष या अनुमान करते हैं। उससे बुद्धि सत् का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विचार बनाती है और उस विचार को व्यक्त करने के लिये भाषा एक उपकरण के रूप में काम में लायी जाती है। इसलिये सत् और विचार स्वभावतः पृथक् हैं और विचारों में संरचित सत्, भाषा द्वारा व्यक्त सत् से भिन्न है।

यह मत बार–बार आता है कि विचार मौलिक होते हैं, भाषा से पृथक् होते हैं और विचार को अभिव्यक्त करने के लिये हम भाषा को काम में लाते हैं। विचार और भाषा से सत् भिन्न है। सत् को देखने या अनुभव करने से जो विचार बनता है, उस विचार के प्रतिनिधि के रूप में या सत् के संकेतन के लिये भाषा का प्रयोग करते हैं। इस विचार तन्त्र की जो पूरी संरचना है वह सत्, विचार और भाषा की प्रक्रिया को समझाने से सम्बन्धित एक उपाय है। दार्शनिक दृष्टि से स्थिति भिन्न होती है। जब भी हम सत् को जानते हैं उस पर चिन्तन या अनुचिन्तन करते हैं तो उसे भाषा से रहित नहीं बल्कि भाषा में ही कर पाते हैं। हम यह नहीं कह सकते कि हमारा कोई भी विचार जो हममें प्रकाशित होता है उसे हम नहीं जानते हैं और जब भी हम उस विचार को जानते हैं तो वह भाषा से अनुविद्ध ही होता है। भाषा से अलग करके किसी भी विचार, किसी भी सत् के बारे में हम सोच ही नहीं सकते। जिस सत् को हम जानते हैं वह विचार रूप होता है और वह विचार भाषा से अनुविद्ध ही नहीं बल्कि भाषा से प्रकाशित भी होता है। किसी भी सत् को हम उसी रूप में जानते हैं जिस रूप में भाषा उसे प्रकाशित करती हैय और भाषा से परे सत् एक रहस्य हो सकता है किन्तु उसका कोई दार्शनिक महत्त्व नहीं होता।

6. क्या दर्शनशास्त्र तत्त्वमीमांसा है :–

तत्त्वमीमांसकों के द्वारा दर्शन को सत् की दृष्टि, परम सत् की दृष्टि की व्याख्या, तत्त्व को यथार्थ रूप में देखने की परिकल्पना आदि के रूपों में लिया जाता है। अगर यह दर्शन है तो दार्शनिक क्रिया करना उस तत्त्वमीमांसीय दृष्टि तक ही सीमित होगा जो सत् के साथ संवाद का दावा करंता है। तत्त्वमीमांसकों का दावा है कि सत् जैसा है उस रूप में उसे जानते हैं।

परम्परया तत्त्वमीमांसा सत् या किसी वस्तु के परम स्वरूप को निर्धारित करने वाले सिद्धान्त, तथा बाह्यवस्तुओं की सत्ता के बारे में, उनके प्रकार भेद के बारे में उठने वाले प्रश्नों और उनकी सिद्धि पर आधारित ज्ञानमीमांसा को सम्मिलित करता है। आधुनिक विचारक 'तत्त्वमीमांसा' शब्द

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का सम्बन्ध अनुभवातीत वस्तुओं जिन्हें हम नहीं जानते हैं पर जिनकी अपने–आपमें सत्ता और मूल्य आनुभविक तत्त्वों से अधिक मानी जाती है, के अध्ययन से लेते हैं। तत्त्वमीमांसीय वस्तु पद को आनुभविक और अनुभवातीत इन दो भागों में बाँटे बिना ही "सत् जो अपने–आप–में है" , इस अर्थ में हम प्रयोग करते हैं। संक्षेप में, हमने चिन्तन के उस अर्थ में तत्त्वमीमांसा को लिया है जिस अर्थ में वह विचार और वस्तु या वस्तु का सार चाहें वह आनुभविक हो या अनुभवातीत हो, को भाषा से बाह्य माना गया है और भाषा उसका संकेत मात्र करती है या उसका प्रतिनिधित्व करती है। जो भी हो दोनों दृष्टियों से तत्त्वमीमांसीय वस्तुएँ इन्द्रिय अगोचर और भाषा से स्वतन्त्र होती हैं। कुछ लब्धप्रतिष्ठित विद्वानों ने तत्त्वमीमांसा को उचित दार्शनिक क्रिया नहीं माना है और तत्त्वमीमांसीय वस्तुओं को बोध का उचित विषय भी नहीं माना है। तत्त्वमीमांसा के खण्डन के लिये इन विद्वानों ने भिन्न–भिन्न प्रकार के तर्कों की व्यवस्था दी है, जिसे हम यहाँ दोहराना नहीं चाहते हैं। मेरा तर्क है कि अपने–आपमें–वस्तु (चाहें वह तत्त्वमीमांसीय हो या भौतिक हो)ज्ञान से अगोचर होने के कारण ज्ञान का विषय नहीं होती है। मेरी समझ से बुद्धि में प्रकाशित सत्ताएँ ही ज्ञान के विषय हैं और वे भाषा से अनुविद्ध ही नहीं होती बल्कि भाषा से प्रकाशित भी होती हैं। बौद्ध–सत् से हमारा तात्पर्य बुद्धि का प्रकाश, सम्प्रत्यय या विचार से है जो बोध रूप विषय है जो भाषा से बुद्धि में प्रकाशित होती है। भाषा से परे बाह्य वस्तुओं के बारे में यही बात नहीं कह सकते। दार्शनिकों के लिये विचार जो हमारे बोध में प्रकाशित होते हैं उन विचारों की भी सत्ता है। वे बौद्ध–सत्ताएँ हैं। भूत, वर्तमान और भविष्य से सम्बन्धित विषय भी उसी रूप में प्रकाशित होते हैं क्योंकि भाषा उन्हें उस रूप में उपस्थित करती है। अगर दर्शन सर्वोत्कृष्ट बोध सम्बन्धी क्रिया है तो बुद्धिस्थ सत्ताएँ ही दार्शनिक अनुचिन्तन के एक मात्र विषय हैं और इसलिये उन सत्ताओं को हम दार्शनिक–विषय कह सकते हैं। उन्हें हम उन बाह्य सत्ताओं जिनका अस्तित्व वस्तुवादियों और विज्ञानवादियों के अनुसार ज्ञान से स्वतन्त्र होता है, के विरुद्ध बौद्धिक सत् या ज्ञान के विषय के रूप में जानते हैं। वस्तु से हमारा तात्पर्य काण्टीयन शब्दावली में अपने–आपमें–वस्तु से है, जो भाषा से वियुक्त सत्ता है। भाषा से वियुक्त सत्ता ज्ञान से भी वियुक्त होगी और ऐसी स्थिति तत्त्वमीमांसा के विरुद्ध जाती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रश्न है कि आख़िर दर्शन क्यों? अगर हम कहें कि हममें से कोई नहीं या हम सभी दार्शनिक हैं तो इसकी सच्चाई क्या है? अगर दर्शन तत्त्वमीमांसीय संरचना है तो यह तत्त्वमीमांसकों की विषयीनिष्ठ क्रिया है या बौद्धिक विलास है और अगर यह सिद्धों, ऋषियों–मुनियों के तत्त्वसाक्षात्कार का प्रस्तुतीकरण है तो दार्शनिक व्यक्ति दिव्य के प्रकाश से युक्त एक वरदानी पुरुष होगा और तब यह एक रहस्यमय अनुभूति से भिन्न नहीं होगा और तब उस अर्थ में हममें से कोई भी दार्शनिक नहीं है। उपरोक्त तात्त्विक दृष्टिकोणों से भिन्न हम लोगों की समझ है कि जब हम किसी विचार के प्रति भ्रम, शंका, विपर्यय, असंगति, अपूर्णता इत्यादि से टकराते हैं तो समस्याएँ उत्पन्न होती हैं और हम उन पर अनुचिन्तनात्मक होते हैं और यह अनुचिन्तन तब तक चलता रहता है जब तक समस्या साफ नहीं हो जाती और शंका का समाधन नहीं हो जाता है । समस्या के दूर होने से दार्शनिक अनुचिन्तन की परिसमाप्ति नहीं हो जाती है क्योंकि बौद्धिक प्राणी होने के नाते मनुष्य पुनः किसी–न–किसी समस्या से टकराता है। यह उसके बौद्धिक भूख के सापेक्ष होती है। समझ, बौद्धिकीकरण, विश्लेषण और व्याख्या की प्रक्रिया में किसी सामान्यीकरण या बौद्धिकीकरण से जो समस्याएँ उत्पन्न होती हैं जिनसे हम टकराते हैं जो हमें दार्शनिक अनुचिन्तन के लिये आमंत्रित करती है और यह अनुचिन्तन तब तक चलता है जब तक समस्या सुस्पष्ट न हो जाये और व्यवहार में प्रसिद्ध सम्प्रत्यय पूर्णता में ग्रहण न हो जाय। व्यक्ति जिन समस्याओं से टकराता है वह उन समस्याओं पर अनुचिन्तन करता है और सम्प्रत्यय जिस पर हमारा व्यावहारिक जगत् टिका है के स्पष्ट द्रष्टावलोकन के प्रति समर्पित भाव से स्वचेतन क्रिया करता है तो वह दार्शनिक होता है।

7. तत्त्वमीमांसा का विच्छेदन बल :–

सत्तामीमांसीय, तत्त्वमीमांसीय और ज्ञानमीमांसीय युक्तियों पर आधारित तत्त्वमीमांसा के विच्छेदन की शक्ति की खोज के सम्बन्ध में भी प्रयास किये गये हैं। बिना कीचड़ लगे कीचड़ से बाहर निकलना कठिन होता है। दूसरों की तत्त्वमीमांसा के खण्डन पूर्वक अपनी तत्त्वमीमांसा बनाना दर्शनशास्त्र में कोई प्रासंगिक योगदान नहीं करता है । तत्त्वमीमांसा का जो सबसे सशक्त बिन्दु होता है वहीं उसका सबसे कमजोर बिन्दु भी होता है। हम तत्त्वमीमांसा, सत्तामीमांसा को बौद्धिक तर्कों के आधार पर खड़ा करते हैं और यह भी मानते हैं कि तत्त्वमीमांसीय वस्तुएँ बौद्धिक युक्ति अथवा बुद्धि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

और विचार से परे होती हैं। इसी तरह हम भाषा में ही तत्त्वमीमांसीय संरचनाएँ भी करते हैं और तत्त्वमीमांसीय पदार्थों को भाषा से परे भी मानते हैं। सत्ता, अर्थ, सम्प्रत्यय और विचार को भाषा से विरहित मानना सत्तामीमांसा और तत्त्वमीमांसा की विच्छेदक शक्ति बनती है। चाहें सत्ता तत्त्वमीमांसीय हो, सत्तामीमांसीय हो या ज्ञानमीमांसीय हो सबका प्रकाशन भाषा से ही होता है। सत्ता और विचार को वहन करने वाली वाहिका के रूप में भाषा की स्थिति को स्वीकार करने का अर्थ है भाषा को एक मृत उपकरण समझना। दार्शनिक दृष्टि से भाषा के बिना किसी भी सत्ता या वस्तु का ज्ञान सम्भव नहीं है तथा भाषा एवं विचार की अनुविद्धता की उपेक्षा किसी भी प्रकार की तत्त्वमीमांसा चाहें वो इन्द्रियातीत की हो अथवा आनुभविक की हो, के विच्छेदक शक्ति के रूप में काम करती है। ज्ञान भाषा से अनुविद्ध होता है परन्तु यथार्थ वाह्यवस्तु को भाषा और ज्ञान से विरहित मानना तत्त्वमीमांसा का आन्तरिक द्वन्द्व है, विरोध है।

8. क्या दर्शनशास्त्र ज्ञान के अध्ययन का शास्त्र है :–

जो दर्शनशास्त्र को आनुभविक ज्ञान से सम्बद्ध करके देखते हैं अथवा परम सत् सम्बन्धी वैज्ञानिक ज्ञान की बात करते हैं ऐसे अनुभववादी एक दूसरा तर्क देते हैं। उनके लिये आनुभविक या वैज्ञानिक ज्ञान से अलग कोई ज्ञान नहीं होता और आनुभविक ज्ञान निरीक्षण, परीक्षण और प्रयोग के आधार पर सत् के प्रामाणिकता पर आधारित वैज्ञानिक ज्ञान होता है। चूँकि निरीक्षण और प्रयोग के विभिन्न आयामों से दर्शनशास्त्र सम्बन्धित नहीं होता है इसलिये आनुभविक बोध जिसका सरोकार विज्ञान से है, के लिये दर्शनशास्त्र एक व्यर्थ शास्त्र है। इससे वे निष्कर्ष निकालते हैं कि दर्शनशास्त्र नहीं बल्कि विज्ञान ही सत् के सम्बन्ध में आनुभविक ज्ञान की निश्चितता से सरोकार रखता है।

अगर हम यह मानें कि दर्शन की आवश्यकता है क्योंकि इसका सम्बन्ध आनुभविक ज्ञान से नहीं बल्कि उच्चतम–ज्ञान से है तो तर्कीय प्रत्यक्षवादी और अनुभववादी यह तर्क देते हैं कि आनुभविक ज्ञान के अतिरिक्त या इससे अलग कोई भी ज्ञान उच्चतम–ज्ञान नहीं होता और इसीलिये ज्ञान को जानने के लिये दर्शनशास्त्र जैसे किसी अनुशासन की जरूरत नहीं है। तो क्या कोई ऐसा विषय है जो दर्शन के लिये अधिकृत है? आनुभविक जगत् में वे वस्तुएँ होती हैं जिन्हें हम इन्द्रियों से जानते हैं और आनुभविक वस्तुओं के लिये हमें दर्शनशास्त्र की कोई आवश्यकता नहीं है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दर्शनशास्त्र के बारे में इस तरह का आनुभविक अवलोकन दर्शनशास्त्र के भविष्य के बारे में अत्याधिक चिन्ता उत्पन्न करता है। दार्शनिक–चिन्तन किस तरह का चिन्तन है? इस प्रकार के प्रश्नों को उठा करके अनुभववादी विचारक दर्शनशास्त्र को विक्षुब्ध करते हैं। वस्तुगत या विषयगत चिन्तन जिसका सम्बन्ध आनुभविक विज्ञान से है जो कि दर्शनशास्त्र नहीं है। यदि इसे आत्मगत या विषयीगत चिन्तन मानें तो ऐसा मानना कल्पना मात्र होगा क्योंकि इस तरह इसमें ज्ञान की वस्तुगता और प्रमाणिकता नहीं होगी। ज्ञानमीमांसा भी अनुमानिक सिद्धि का उपाय मात्र है और यह विज्ञान ही है जो निरीक्षण, परीक्षण और निष्कर्ष के द्वारा सत्य को संपुष्ट करता है। हम यहाँ केवल आनुभविक ज्ञान और आनुभविक ज्ञान के विषय की सत्यता मात्र की तरफ संकेत करना चाहते हैं।

वैज्ञानिक चिन्तन से भिन्न दार्शनिक चिन्तन ज्ञान के यहाँ तक की आनुभविक स्रोतों से प्राप्त ज्ञान के विश्लेषण और स्पष्टता को विषय बनाता है जबकि आनुभविक स्रोत ज्ञान नहीं अपितु इन्द्रिय–संवेदनाओं के साधन होते हैं। इन्द्रिय–संवेदनाओं के ज्ञान पर दर्शनशास्त्र चिन्तन करता है न कि आनुभविक जगत् की वस्तुओं पर। दर्शन वस्तुओं के विचार या उनके ज्ञान को चिन्तन को केन्द्र बनाता है न कि वस्तुओं को। बुद्धि किसी परा–विषय (मेटा–ऑब्जेक्ट) या परा–ज्ञान (मेटा–नॉलेज) को नहीं बल्कि बुद्धि में प्रकाशित विषय अथवा वस्तुओं के विचार को ही प्रकाशित करती है क्योंकि परा–विषय और परा–ज्ञान भाषा से पृथकीकृत या वियुक्त चीजें मानी जाती है। वस्तु, विचार या भाषा के बारे में जो वर्णन होते हैं उन्हें परा–विषय मानना ठीक नहीं है क्योंकि उन पर चिन्तन भाषा से ही प्रकाशित होते हैं।

9. क्या दर्शनशास्त्र विश्लेषण है :–

ए.जे.एयर[2] के द्वारा तत्त्वमीमांसा के निराकरण के बाद अर्थ की स्पष्टता और अवधारणात्मक बोध के लिये दार्शनिक चिन्तन भाषा के विश्लेषण परपहुँच गया। ज्ञानमीमांसा के विखण्डन पर रॉर्टी और सुसान हक्क का 'ज्ञानमीमांसा का ताजा मृत्यु लेख' तत्त्वमीमांसीय संरचना के रूप में दार्शनिक चिन्तन की प्रथा को पूर्णतः बर्बाद कर दिया। उत्तर–आधुनिक प्रभाव के साथ वैश्विक स्तर पर हम एक भौतिकवादी (बाजारवादी) धक्कामुक्की देख रहे हैं। इसने दर्शनशास्त्र की उपयोगिता पर प्रश्न खड़ा कर दिया है। शिक्षा में नीति का विधान करने वाले राजनीतिज्ञ लोग यह सोचना शुरू कर दिये हैं कि जिस शास्त्र से कोई भौतिक लाभ नहीं होता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उस पर बजट की एक बड़ी राशि क्यों खर्च किया जाय। यह समस्त परिवेश दर्शनशास्त्र से जुड़े व्यक्तियों को दर्शनशास्त्र के भविष्य के बारे में अस्त–व्यस्त कर दिया है। दर्शनशास्त्र को थोड़ा आकर्षक (आधुनिक) बनाने के नाम पर, जीवन पर उत्तर–आधुनिक प्रभावों से उत्पन्न नुकसान की भरपायी के उपाय के रूप में, ये लोग दर्शन के नाम पर नीतिशास्त्रीय, समाजशास्त्रीय, राजनैतिक व्याख्याएँ, तथा योगशास्त्रीय तथा आध्यात्म–शास्त्रीय अध्ययनों में लिपटे हुये हैं। क्या ऐसे लोग दर्शन को ज्यादा नुकसान नहीं पहुँचातें हैं ?

भाषा और विश्लेषण दर्शन के रूप में दर्शनशास्त्र की पहचान होती है। क्या दार्शनिक क्रियाएँ परत–दर–परत प्याज छिलने की तरह है? विश्लेषणवादी दार्शनिक ऐसा सोचते हैं कि दार्शनिक समस्याएँ भाषा के गलत प्रयोग से उत्पन्न होती हैं या भाषा के अनुचित प्रयोग से उत्पन्न भ्रम (संशय) से होती है या जब भाषा छुट्टी पर चली जाती है तब उत्पन्न होती है और इन समस्याओं को दूर करने का एक मात्र उपाय है समस्या के समाधन तक भाषा का विश्लेषण करना। जब हम विश्लेषण करते हैं तो भाषा में व्यक्त विचार स्पष्ट हो जाते हैं और समस्या दूर हो जाती है। यह विश्लेषण प्याज छिलने के समान ही होता है क्योंकि प्याज परत–दर–परत छिल जाने पर हम यह जान पाते हैं कि पूरी प्याज में या उसके विश्लेषित परतों में कुछ भी छिपा नहीं होता। दार्शनिक विश्लेषण भाषा के वैयाकरणीय विश्लेषण से भिन्न होता है और इसीलिये पूरी प्याज से उसके सभी छिलकों को अलग करने, जिससे प्याज विघटित हो जाता है, से भी भिन्न है। हमारे अनुसार दार्शनिक विश्लेषण एक स्वचेतन क्रिया है जिसमें भाषा और अर्थ जिसे भाषा व्यक्त करती है ही केवल विश्लेषण के विषय नहीं होते हैं अपितु उनका बोध, विश्लेषण का एक उचित बोधमूलक आधार एवं विषय–बोध का स्वबोध भी सम्मिलित होता है। यह क्रिया बोतल से मक्खी उड़ाने की तरह नहीं है क्योंकि दार्शनिक विश्लेषण और उस पर अनुचिन्तन का उद्देश्य सम्प्रत्ययों कोउस रूप में स्पष्ट करना है जिस रूप में वे ज्ञात होती है। विश्लेषण के द्वारा जब समस्या समाप्त हो जाती है और स्पष्टता प्राप्त हो जाती है तो विवेक और आनन्द की उपलब्धि होती है।

भाषा का भाषीय विश्लेषण, अर्थ शास्त्रीय विश्लेषण, ज्ञान का विश्लेषण, ज्ञान की अखण्डता का भाषीय विश्लेषण, क्रिया–मूलक विश्लेषण और भाषा का स्वशासी सिद्धान्त आजकल दार्शनिक चिन्तन करने वाले

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लोगों के बुद्धि को प्रभावित कर रहे हैं। बुद्धि–सम्पन्न होने से मनुष्य समस्याओं से टकराता है और उन समस्याओं के दार्शनिक समाधान के रूप में बोधमूलक अखण्डवाद को देखा जा सकता है। आशा है ये दार्शनिक चिन्तन आगे आने वाले समय में बोध के सर्वग्राही उपाय के रूप में फले फूलेंगे।

10. क्या दर्शन अर्थ का भाषाशास्त्रीय विंश्लेषण है :–

भाषा को उसके निश्चित प्रयोग और उस प्रयोग के प्रति आबद्धता से भाषा को मुक्त करने का प्रयास विट्गेंस्टाइन का रहा है। भाषा का अर्थ उसका प्रयोग है।विभिन्न सन्दर्भों और अभिप्रायों में भाषा का प्रयोग भिन्न–भिन्न अर्थों का प्रतिनिधित्व करता है। अपने–आपमें–वस्तु के स्वरूप को स्थगित कर विभिन्न सन्दर्भों और अभिप्रायों में भाषा के अर्थ को देखने के लिये उन्होंने दार्शनिकों का आह्वान किया है। उनका मानना है कि दार्शनिक जिस अर्थ से आबद्ध होते हैं उसी मॉडल में उससे बचने का प्रयास भी करते हैं और ऐसा करना भी समस्याएँ उत्पन्न करता है।

ऐसा कह सकते हैं कि यह एक भाषा वैज्ञानिक का कार्य है और दार्शनिक क्रिया को भाषा शास्त्रीय विश्लेषण तक सीमित करना उन दार्शनिकों के अनुसार उचित प्रतीत नहीं होता जो दर्शनशास्त्र को सर्वोत्कृष्ट बोधमूलक क्रिया मानते हैं। कथनों को उनके तात्त्विक प्रयोगों से हटाना और उन्हें दैनिक प्रयोगों में लगाना दार्शनिकों का कार्य नहीं है। तात्त्विक प्रयोग अपने अर्थ प्रगट करते हैं और हम उन अर्थों को कथनों से ही जानते हैं अर्थात् वे तात्त्विक प्रयोग हैं न कि दैनिन्दनी में प्रयोग होने वाले शब्द। अनुचिन्तनात्मक बुद्धि समस्याओं से टकराती है और उन्हें दूर करने के लिये उनका विश्लेषण करती है, उनका परीक्षण करती है और उन समस्या के प्रति विवेक तक पहुँचाती है।

विट्गेंस्टाइन की दृष्टि के अनुसार जो लोग गप करते हैं, ऐंद्रिक ज्ञानमीमांसा देते हैं और लाक्षणिक रूपकों का प्रयोग करते हैं, वे मानते हैं कि हम भाषा के विश्लेषण और सामाजिक ज्ञानमीमांसा के द्वारा दार्शनिक बदहाली को दूर कर सकते हैं पर वे लोग भी अपने ढंग से दार्शनिक उलझनों को उत्पन्न करते हैं।

भाषा से पृथक् कोई भी विचार, सम्प्रत्यय,कल्पना, चित्र सम्भव नहीं होता। दार्शनिक दृष्टि से हम शब्द का वही अर्थ लेते हैं जिसे वह प्रकाशित करता है। भाषा के अनेक प्रयोगों मेंहम बहुत सारे अर्थों को जानते हैं और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हम उनके सही अथवा गलत प्रयोगों को भी जानते हैं क्योंकि भाषा उन्हें प्रकाशित करती है न कि उनका प्रतिनिधित्व करती है। जैसा कि हम सोचते हैं दार्शनिक का कार्य जिन समस्याओं से वह टकराता है उन समस्याओं पर अनुचिन्तन तक ही सीमित नहीं है बल्कि उन्हीं पर आधारित भी है। यह अनुचिन्तन बुद्धिस्थ सत्ताओं यानि भाषा और उससे प्रकाशित अर्थ को ही बोध का विषय स्वीकार कर उनके बोध पर अनुचिन्तन को केन्द्रित करता है। अपने से अभिन्न रूप में अर्थ को प्रकाशित करने की भाषा की शक्ति की अनदेखी करने पर बोधमूलक आधार की अनुपस्थिति में कोई भी सामाजिक–ज्ञानमीमांसा, कोई भी भाषीय विश्लेषण अधिक समय तक अस्तित्त्व में नहीं रह सकती है।

11. समीक्षात्मक दर्शन और समीक्षात्मक चिन्तन :–

समीक्षात्मक दर्शन और समीक्षात्मक चिन्तन अलग–अलग विचारधाराएँ हैं। उदाहरण के लिये काण्ट का दर्शन इस अर्थ में समीक्षात्मक है कि वह बुद्धिवाद और अनुभववाद की समीक्षा करता है। बुद्धि की सीमा तथा मानवीय बुद्धि द्वारा सब कुछ, यहाँ तक की ईश्वर या परमतत्त्व को भी जान लेने की सक्षमता का परम हिमायती बुद्धिवाद की अपर्याप्तता पर कान्ट प्रश्न उठते हैं। बाह्य वस्तुओं से प्राप्त संवेदनाओं की सर्जनात्मकता की ज्ञान में सक्रिय भागीदारी का बुद्धिवादी निषेध काण्ट के समीक्षात्मक दर्शन का एक दूसरा आधार है। बाह्य जगत् से प्राप्त संवेदनाएँ हमारी बुद्धि के प्रक्षेपण हैं और उनका अनुभव आनुभविक जगत् से प्राप्त होता है। बुद्धिवादियों से भिन्न अनुभववादी यह दावा करते हैं कि जन्म के साथ बुद्धि कोरे कागज के जैसी होती है जिस पर कुछ भी लिखा नहीं होता। बुद्धि ज्ञान की जन्मजात शक्ति नहीं है अपितु, इन्द्रियों से प्राप्त विज्ञानों की पोटली मात्र है। हम केवल संस्कारों या संवेदनाओं को और उन संवेदनाओं के आधार पर बने विचारों सम्प्रत्ययों को जान सकते हैं। अनुभववादियों की इस स्थिति को लाइब्नित्ज जैसे दार्शनिकों के अनुयायी ज्ञान की व्याख्या के लिये अनुपयुक्त मानते हैं। कांट के अनुसार ज्ञान केवल निश्चित ही नहीं नवीन भी होता है। बुद्धिवादियों के द्वारा मान्य विश्लेषणात्मक कथनों से निश्चित ज्ञान प्राप्त होता है और अनुभववादियों की स्थिति के अनुसार संश्लेषणात्मक कथनों से निश्चित ज्ञान नहीं अपितु मात्र नवीन ज्ञान प्राप्त होता है। इन स्थितियों पर इमैनुएल काण्ट प्रश्न उठाते हुये ज्ञान के प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक कथनों के सिद्धान्त को जन्म देते हैं। ज्ञान निश्चयात्मक और नवीन दोनों होता है

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

और इस तरह जो ज्ञान सम्बन्धी कथन है वे विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक दोनों होते हैं। संवेदनाएँ इन्द्रियों के द्वारा बाह्य वस्तुओं से प्राप्त होती हैं जिसके कारण आनुभविक ज्ञान नवीन होता है किन्तु उसमें निश्चयात्मकता नहीं होती है परन्तु प्रागनुभविक बुद्धि की वर्गणाओं के द्वारा उन्हें ज्ञान का रूप दिया जाता है इसलिये उनमें निश्चयात्मकता भी होती है। अन्ततो इस आलोचनात्मक दृष्टिकोण से काण्ट बुद्धिवाद और अनुभववाद दोनों दर्शनों की सीमाओं का अंकन करते हैं और प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक ज्ञान की संरचना के कथन को स्वीकार करते हैं। ज्ञान नवीन भी होता है और इसमें निश्चयात्मिकता भी होती है। उन्होंने शुद्ध बुद्धि की समीक्षानामक अपने ग्रन्थ में विज्ञान, ज्यामिति और गणित से सम्बन्धित विश्लेषणात्मक कथनों से प्राप्त ज्ञान की नवीनता और आनुभविक जगत् तथा विज्ञान सम्बन्धी संश्लेषणात्मक कथनों से प्राप्त ज्ञान में निश्चयात्मक की भी संभावना को दर्शाया हैं।" बुद्धि के बिना इन्द्रिय संवेदन लंगड़े हैं और संवेदनाओं के बिना बुद्धि अंधी है"। काण्ट का समीक्षा दर्शन ज्ञान का सिद्धान्त है जिसमें बुद्धि और इन्द्रियानुभव दोनों की शक्ति द्रव्य और आकार के रूप में एक साथ सन्निहित होती है। उनके दर्शन में विश्लेषणात्मकता और संश्लेषणात्मकता दोनों का सुन्दर अनुबन्ध हुआ है और इसलिये वे ज्ञान को युगपत् नवीन और निश्चयात्मक रूप में परिभाषित करते हैं। द्रव्यं के रूप में इन्द्रिय–संवेदनाएँ और आकार के रूप में बुद्धि और दोनों के योग से ज्ञान की उत्पत्ति की काण्टीयन समीक्षा को हम समीक्षात्मक दर्शन कहते हैं। समीक्षात्मक चिन्तन सामान्यतः एक कथन की प्राप्ति के लिये तथ्यों का विश्लेषण है। समीक्षात्मक चिन्तन के अन्तर्गत तर्क, सन्देह, शिक्षण पद्धति, निष्पक्ष विश्लेषण सम्मिलित किये जाते हैं जो समस्यों की गाठों को खोलते हैं और निर्णयात्मक कथन तक पहुँचने के अवसर प्रदान करते हैं। उदाहरण के लिये ह्यूम का अनुभववाद जो इमैनुएल काण्ट को दार्शनिक निद्रा से जगाता है एक समीक्षात्मक चिन्तन है जिसमें वे बुद्धिवादियों की बुद्धि की अवधारणा को विश्लेषित करते हैं और प्रत्यय की जन्मजात संभावनाओं को अस्वीकार करते हैं। तत्त्व, ईश्वर, आत्मा, जगत् तथा उनके गुणों को सिद्ध करने वाले बुद्धिवादियों की युक्तियों पर इस तरह से अनुचिन्तन करते हैं कि कुछ विद्वान् उनके अनुभववाद को अज्ञेयवाद और कुछ दूसरे संशयवाद के रूप में मूल्यांकन करते हैं। भारतीय दर्शन में हम नागार्जुन, श्रीहर्ष और जयराशि भट्ट के दर्शन में समीक्षा–दर्शन पाते हैं। वे विश्लेषण और इस पक्ष

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

में तर्क करते हैं कि तात्त्विक वस्तुओं को सिद्ध करने के लिये जो तात्त्विक और ज्ञानमीमांसीय युक्तियाँ और ज्ञानमीमांसीय प्रमाण दिये गये हैं वे ठीक तरह से व्यवस्थित नहीं है; जिन युक्तियों के द्वारा वे जो सिद्ध करना चाहते हैं उन्हें सिद्ध करने में वे युक्तियाँ असफल हैं।

12. दर्शनशास्त्र के विषय पर वाद–विवाद :–

सभ्यता और संस्कृति के अभ्युदय के साथ ही ज्ञान के विषय को समझने के प्रयास होते रहे हैं। सामान्यतः हम मानते हैं कि हमारे ज्ञान की दुनियां विचार के रूप में बुद्धि और वस्तु के रूप में द्रव्य अर्थात् मन (चेतना) और शरीर के द्वैत की है, जिसमें बुद्धि आन्तरिक और शरीर बाह्य हैं। इस द्वैत की समस्या के समाधान के प्रयास में बहुत सारे यथार्थवादी और सम्प्रत्ययवादी सिद्धान्त दिये गये हैं। निर्णयात्मक स्थिति में पहुँचने के लिये हम उनमें से कुछ विचारों तक ही यहाँ अपने चिन्तन को सीमित करेंगे जिनके आधार पर हम ज्ञान और दार्शनिक चिन्तन की समस्या के दार्शनिक समाधान की ओर अग्रसर हो सकें।

वस्तु के विचार सामान्य होते हैं और अपने–आपमें–जो वस्तु है वह विशेष होती है। बौद्ध तर्कशास्त्री मानते हैं कि विचार बुद्धि के विकल्प हैं इसलिये इनका अस्तित्त्व नहीं होता और अपने–आपमें–वस्तु सत् है उसका अस्तित्त्व है किन्तु वह चतुष्कोटि विनिर्मुक्त है। बाह्य वस्तु सदैव द्रव्य होती है, व्यक्ति होती है, वे सदैव पृथक् शक्ति होती है परन्तु बुद्धि उन्हें नहीं जान सकती है। बुद्धि केवल उनके विचारों को जान सकती है; जाति को जान सकती है और जाति सदैव विकल्प होती है। सत् का साक्षात्यानि स्वलक्षण प्रत्यक्ष होता है और जिसका साक्षात् प्रत्यक्ष होता है वह सत् है। काल्पनिक नाम जात्यादि योजना विकल्प और बाह्य सत् के बीच सम्बन्ध की भ्रान्ति से सामान्य उत्पन्न होता है। ये लोग स्वलक्षण प्रत्यक्ष से प्राप्त निर्विकल्पक ज्ञान को सर्वोच्च महत्त्व देते हैं और सविकल्पक ज्ञान जिसे हम अनुमान से जानते हैं को तार्किक विकल्प स्वीकार करते हैं। स्वलक्षण दार्शनिक विश्लेषण का विषय नहीं है बल्कि साधना का विषय है और उससे किसी ऐसी सत्ता की प्राप्ति नहीं होती जो दार्शनिक चिन्तन के हेतु या विषय के रूप में काम करती हो। यहाँ दर्शन का अन्त हो जाता है और साधना आगे बढ़ती है।

अद्वैत वेदान्ती यह मानते हैं कि हमारे ज्ञान और अनुभव का संसार विषय और विषयी का हैं। कोई भी विचार और कोई भी वस्तु परम सत् नहीं है। परम सत् विचार और वस्तु से परे है। हमारे ज्ञान से, हमारी बुद्धि के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पकड़ से बाहर होने या अतीन्द्रिय होने से अगोचर तत्त्व ज्ञान का विषय और इसी प्रकार दार्शनिक अनुचिन्तन का विषय नहीं हो सकता। यहाँ अपरोक्षानुभूति जिसके समक्ष बुद्धि गौण है को प्राथमिकता दी गई है। बुद्धि से हम जो कुछ जानते हैं वह भ्रम (अध्यास) है। वह सत् नहीं हो सकता, सत् की तो अपरोक्षानुभूति होती है। सत् को हम केवल सत् होकर ही जान सकते हैं। दार्शनिक चिन्तन साधना की साधिका है और इसलिये इससे धार्मिक न कि किसी दार्शनिक उद्देश्य की पूर्ति होती है।

नागार्जुन, धर्मकीर्ति, जयराशि तथा कुछ हद तक श्रीहर्ष की जो वितण्डावादी तर्कणाएँ हैं वे युक्तियों के खण्डन पर केन्द्रित हैं। उनके हाथों में युक्ति और तर्क का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है पर वे तत्त्वमीमांसीय और ज्ञानमीमांसीय संरचनाओं से चिंतन को स्वतन्त्र करने के मार्ग को प्रशस्त करती है। उनका बौद्धिक विलास अपने उद्देश्य में गैर–बौद्धिक प्रतीत होता है।

बाह्य वस्तुओं की दुनिया और विचारों की दुनिया के द्वैत की जो द्वन्दात्मक स्थिति है उनके समाधान के अनेकों प्रयास किये गये हैं जिसमें से कुछ दृष्टान्तों को हम यहाँ रखते हैं।

i. यथार्थवादी (वस्तुवादी) व्यक्ति और जाति दोनों को निरपेक्ष सत्ताएँ मानते हैं। ये दोनों ज्ञान के माध्यम से सम्पर्क करते हैं।

i.. दोनों स्वतन्त्र हैं पर ज्ञान के लिये जो बाद वाला (सामान्य) है वह पहले वाले (बाह्यवस्तु) पर आश्रित है।

iii. दोनों में से किसी की भी सत्ता नहीं हैं और वे सत् एवं अतीन्द्रिय सत्ता पर आरोपित या उसके विवर्त हैं।

iv. दोनों सत् हैं, किन्तु अंगांगी रूप में। ये अतीन्द्रिय सत् के अवयव हैं।

v. अतीन्द्रिय सत्, चेतन और सर्वव्यापक है। इस दृष्टिकोण के अनुसार व्यक्ति और जाति ज्ञानमीमांसीय द्वैत्तताएँ हैं।

ज्ञान के विषयों– व्यक्ति, जाति या दोनों के समाधान सम्बन्धित वाद–विवाद को लेकर भारतीय और पाश्चात्य परम्पराओं में अनेकों सिद्धान्त मिलते हैं।

संक्षेप में, आन्तरिक और बाह्य विषयों की समस्या उनके ज्ञान पर स्थानान्तरित हो गयी। ज्ञान को ध्यान में रखकर ज्ञान के स्वरूप के बारे में, ज्ञान के विषय से इसके भेद के बारे में, बाह्य वस्तु और ज्ञान के विषय के बारे में, ज्ञान के प्रकारों के बारे में, ज्ञान की सत्यता और वैधता के बारे में और अन्ततो ज्ञान की सीमा के बारे में अनेकों सूक्ष्म मुद्दे उठाये गये हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विचार और बाह्य जगत् की वस्तुओं के द्वैत को स्वीकार कर अर्थात् यदि हम व्यक्ति और जाति के द्वैत को लेकर दोनों में से किसी एक को सत् और दूसरे को विकल्प मानकर दार्शनिक अनुचिन्तन करें तो दोनों में से किसी एक को ज्ञान का विषय मानने में दूसरे की उपेक्षा होगी। अगर दोनों को ज्ञान का विषय मानें तो उनका ज्ञान इन दोनों से परे होगा। यहाँ दो स्थितियाँ उत्पन्न होंगी।

अ. ज्ञान हमेशा विषय का ज्ञान होता है अर्थात् ज्ञान और ज्ञान के विषय दोनों अभिन्न हैं, और

ब. ज्ञान और ज्ञान के विषय के भेद को स्वीकार करना पड़ेगा।

पहली स्थिति अगर मानें तो ज्ञान और ज्ञान के विषय दोनों अभिन्न नहीं हो सकते क्योंकि ज्ञान की वस्तु या विषय स्वरूपतः ज्ञान से भिन्न होता है। अन्यत्व अथवा भिन्नता ज्ञान के विषय का लक्षण है न कि ज्ञान के विषय के ज्ञान का लक्षण है। बौद्ध दार्शनिक निर्विकल्पक ज्ञान को मूल मानते हैं जिसके द्वारा सत् (स्वलक्षण) को जाना जाता है। उनके अनुसार सविकल्पक ज्ञान बुद्धि का विकल्प है अतः स्वलक्षण ज्ञान का विषय नहीं हो सकता है। मेरा मत है कि यदि ज्ञान सदैव विषय का ज्ञान है तो यह सविकल्पक होगा। अगर ऐसा नहीं है तो ज्ञान के विषय की पहचान विषय के रूप में भी नहीं होगी। अगर हम यह मानें कि हम विशेष या व्यक्ति को देखते हैं किन्तु वह स्वलक्षण है और उसे हम बुद्धि के विकल्प के रूप में अनुमान से जान सकते हैं तो एक द्वन्दात्मक स्थिति पैदा हो सकती है जिसमें हम साक्षात् अनुभव तो करते हैं व्यक्ति (स्वलक्षण) का किन्तु जानते हैं विकल्प (सामान्य) को। ये बात तो यह कहने की तरह हैं कि हम देखते तो हाथी को हैं किन्तु दृष्ट हाथी को विकल्पित रूप में ही जान सकते हैं। ज्ञान हमेशा सविकल्पक, निर्धारित और विविक्त होता है। यहाँ तक कि शंका या संशयात्मक ज्ञान को भी सन्देह के रूप में हम उसे निर्धारित और विविक्त रूप में जान सकते हैं। अगर ऐसा न मानें तो हम यह भी नहीं जान सकते हैं कि सन्देह कोई चीज है। अनुमान लिंग के द्वारा वस्तु का संकेत भर करता है इसलिये यह स्वलक्षण का निर्धारण पूर्वक ज्ञान नहीं करा सकता। सविकल्पक विकल्पों से भिन्न निर्विकल्पक या स्वलक्षण का ज्ञान तभी सम्भव होगा जब यह विविक्त और निर्धारित रूप में वैसा जाना जाये किन्तु, बौद्ध लोग इसको स्वीकार नहीं करेंगे क्योंकि वे स्वलक्षण को निर्विकल्पक ज्ञान मानते हैं (उसमें नामजात्यादि योजना नहीं होती है)। दर्शनशास्त्र की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पद्धति साधना की पद्धति नहीं है। साधना को जगह देने के उपाय के रूप में दर्शन की उपेक्षा कर देना विवेकी लोगों की प्रणाली नहीं है। विवेकी को विवेकी इसलिये कहते हैं क्योंकि उसे विशेष और सामान्य समस्याओं का निश्चयात्मक ज्ञान होता है। उसके लिये ज्ञान का विषय चाहें वह काल्पनिक ही क्यों न हो असत् नहीं अपितु, निश्चयात्मक और विविक्त सत् होता है। कोई भी चीज विकल्प (विषय) हो सकती है किन्तु उसका भी ज्ञान निश्चयात्मक होता है। ऐसा न हो तो निःसंदेह विकल्प के रूप में भी उसका ज्ञान नहीं होगा। विकल्प का अर्थ भिन्न होना है न कि काल्पनिक। किसी ज्ञान विशेष में ज्ञान के विषय की भेदक भाषा होती है और इसी वजह से हमको विषय का स्पष्ट बोध होता है। ज्ञान का निर्धारक भाषा है ।

भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों और पाश्चात्यों की सामान्य राय है कि भाषा और विचार अलग–अलग होते हैं। भाषा उपकरण (साधन) है जिसके द्वारा विचार व्यक्त होते हैं। मेरा मानना है कि विचार के रूप में विचार हमेशा सत् होता है। सत विचार से स्वतन्त्र हो सकता है पर ज्ञान के लिए वह विचार से स्वंतंत्र नहीं होता। विचार किसी सत् का विचार हो सकता है चाहें वह सत् अस्तित्वान हो या अनस्तित्वान। कुछ सिद्धान्तियों के मत में सत्– पदार्थ का प्रत्यक्ष इन्द्रियों के द्वारा होता है, बुद्धि प्रत्यक्षीकृत संवेदनाओं से विचार का निर्माण करती है और जब विचारों को अभिव्यक्त करने की आवश्यकता होती है तब भाषा को काम में लाना पड़ता है। यहाँ दार्शनिक समस्याएँ संक्षिप्त होकर सत्, विचार और भाषा तक सीमित हो जाती हैं। किसी को ऐसा लग सकता है कि दर्शन के सम्बन्ध में कोई अपनी अवधारणा बनाने के लिये मैं सदैव दूसरों की अवधारणा के विरुद्ध तर्क कर रहा हूँ, और इसलिये कोई यह पूछ सकता है कि क्या मैं दार्शनिक अनुचिन्तन कर रहा हूँ? अगर किसी सम्प्रत्यय को उसकी समग्रता की दृष्टि में जानने के लिये मैं अनुचिन्तन करता हूँ तो जितनी भी मेरे समय तक की उस सम्प्रत्यय पर प्रसिद्ध अवधारणाएँ हैं मुझे उनका अवलोकन करना होगा। सम्प्रत्यय बोध पर ही हमारा दैनिन्दनी व्यवहार आधारित होता है। अगर सम्प्रत्यय स्पष्ट नहीं है तो हम ठीक ढंग से व्यवहार नहीं कर पायेंगे। एक साधारण बिना पढ़ा लिखा व्यक्ति जो किसी सत् पदार्थ के हमारी या आपकी अवधारणा को नहीं जानता पर वह उस सत् पदार्थ को जिस तरह से लोक व्यवहार में प्रयोग होता है, उसे जानता है। व्यवहार में भाषा जिस रूप में स्पष्ट सम्प्रत्यय को प्रकाशित करती है उसी से ऐसा सम्भव होता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सत्ता पद से हमारा तात्पर्य भाषा द्वारा प्रकाशित अर्थ से है। वाह्य वस्तु के विरुद्ध विचार की भी सत्ता होती है जिसे हम उपचार या बोध्य सत्ता कहते हैं और जो भाषा से प्रकाशित होती है।

13. क्या दर्शन आत्मगत–चिन्तन, वस्तुगत–चिन्तन अथवा बोधमूलक अनुचिन्तन है ?

इस बिन्दु पर विवेचन सर्वोत्कृष्ट ज्ञान की प्रक्रिया के रूप में दर्शन के स्वरूप को निश्चित करने की दिशा में उपयोगी है।

(i) कुछ विचारक यह मानते हैं कि दर्शन आत्मगत चिन्तन है। उनका मानना है कि अनुचिन्तन में चेतना बाह्य विषयों की ओर उन्मुख नहीं होती अपितु स्वयं चेतना (आत्मा) पर ही केन्द्रित रहती है क्योंकि अनुचिन्तन का विषय प्रत्यक् (अपरोक्ष) होता है जो कि वस्तुगत–चेतना का एक प्रकार नहीं है। यह परिभाषा विभिन्न प्रकार के वस्तुगत चिन्तन से दार्शनिक चेतना को भिन्न करती है और अन्ततो साधना की तरफ ले जाती है जहाँ कोई संवाद सम्भव नहीं होता।

(ii) जो लोग दर्शन को वस्तुगत–अनुचिन्तन मानते हैं वे यह आलोचना करते हैं कि आत्मगत–चिन्तन चेतना को एक वस्तु मानने का दोष उत्पन्न नहीं कर सकता। चेतना स्वयं पर अनुचिन्तन नहीं कर सकती और इसलिये स्व–चेतना की स्व–चेतन नहीं हो सकती। उनके अनुसार चेतना बहिर्मुखी होती है और ये किसी न किसी विषय की चेतना होती है। अगर ऐसा है तो दार्शनिक चिन्तन की सम्भावना नहीं हो पायेगी क्योंकि चेतना वस्तु चेतना से स्वतन्त्र नहीं हो पायेगी और इसीलिये स्व–चेतन होने की सम्भावना नहीं बनेगी अथवा चेतना को ही अनुचिन्तन का विषय बना लेगी परन्तु वही चेतना एक साथ विषयी और विषय दोनों नहीं हो सकती। इस तरह दार्शनिक अनुचिन्तन के स्वायत्तता पर सवाल उठता है।

(iii) इस मत में अनुचिन्तन का स्वरूप उन सिद्धान्तियों से सम्बन्धित है जो यह मानते हैं कि दर्शनशास्त्र आत्मगत और वस्तुगत दोनों प्रकार की चेतनाओं से बढ़कर या उनका अतिक्रामी होता है। इसी में दर्शन की स्वायत्तता है। आत्मचेतन होने का अर्थ है चेतना की एक गैर–वस्तुगत स्थिति। किन्तु अगर ऐसा मानें तो उस तरह की जो चेतना है वह इसके आत्मगतता (विषयीचेतना) से स्वतन्त्र नहीं होगी। किसी सम्प्रत्यय की अवधारणात्मक क्रिया पर कोई समस्या को लेकर अगर स्व–चेतन क्रिया दर्शन है और यदि पक्ष–विपक्ष में तर्क उसी सन्दर्भ में प्रयोग करने योग्य है न

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कि किसी बाह्य वस्तुतन्त्र में तो प्रश्न उठता है कि संवाद कैसे सम्भव होगा? जिसको हम बोधमूलक क्रिया कहते हैं उस क्रिया के बारे में किस तरह हम तर्क और व्यवहार कर सकते हैं और दूसरे को उस क्रिया के बारे में विश्वास दिला सकते हैं। इसे बौद्धिक रुचि और प्रवृत्ति के विषय के रूप में नहीं ले सकते। अगर चेतना पर ही होने वाले निरन्तर संवाद को दर्शन मानें तो यह हमें धर्म (रिलीजन) की ओर ले जायेगा। बहरहाल अगर हम सम्प्रत्यय को अमूर्त मानें अर्थात् अनेक गुणों और क्रियाओं के अनुभव के आधार पर एक–दूसरे से भिन्न अनेक क्रियाओं से अमूर्तीकृत मानें तो संवाद और व्यवहार कैसे सम्भव होगा? कोई कैसे दावा कर सकेगा कि उसका दर्शन सर्वोत्तम है और इसमें सम्पूर्ण दक्षता और उपयुक्तता निहित है? क्या कोई भी अमूर्तीकरण भाषा के बिना सम्भव हो सकता है? और अगर यह सम्भव भी होता है तो क्या कोई दर्शन भाषा के बिना अपने अभिप्राय को बता पायेगा? उपरोक्त समस्याएँ दार्शनिक या अनुचिन्तनात्मक क्रियाओं में भाषा की प्रधानता से सम्बन्धित हैं।

(iv) आत्मगत, वस्तुगत और गैर–वस्तुवादी अनुचिन्तन के रूप में सामान्य रूप से स्वीकृत दार्शनिक चिन्तन ज्ञान को भाषा, सत् (तात्त्विक ही नहीं बल्कि तार्किक भी) और सत्य जो ज्ञानमीमांसीय प्रमाणों और औचित्यों से प्राप्त होते हैं, के सम्बन्ध को लेकर ही समझा है। ऐसे अनुचिन्तन में भाषा, सत् और सत्य तीनों अलग–अलग चीजें हैं। हम जानते हैं कि जब विषयी–चेतना का प्रवाह बन्द होता है तो स्व–चेतना प्रवाह में आती है और इसी तरह जब स्व–चेतना का प्रवाह समाप्त हो जाता है तो चेतना विषयगत हो जाती है। स्वचेतनात्मक प्रवाह किसी एक समस्या के समाधान से समाप्त नहीं हो जाती बल्कि किसी न किसी समस्या–विशेष से हमारी बुद्धि टकरा सकती है और ऐसी सम्भावना हमेशा बनी रहती है। यदि भाषा और विचार एक– दूसरे से निरपेक्ष हैं तो स्व–चेतनात्मक क्रिया के रूप में दर्शन सम्भव नहीं होगा और तब यह विचारों की या बौद्ध–विषयों की चेतना की स्वचेतना नहीं होगी। दर्शन को ज्ञान की समीक्षा के रूप में दावा किया जाता है न कि अनुभव करने, अमूर्तीकरण की क्रिया करने, सत्यापन और वस्तु के ज्ञान के दृढ़िकरण के अर्थ में अपितु सम्प्रत्ययों के प्रकाश में निहित नियमों और सिद्धान्तों की स्व–चेतना तथा विषय की चेतना से सम्बन्धित समस्याओं के विश्लेषण के अर्थ में।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(v) दर्शन अतिक्रामी स्वभाव का होता है। जो वस्तुएँ हमारी बुद्धि से टकराती हैं यह केवल उन्हीं पर अनुचिन्तन नहीं करता बल्कि उन अनुचिन्तनों में भी जो समस्याएँ आती हैं उन पर भी अनुचिन्तन करता है। यह अनुचिन्तन वस्तु तक आकर रूकता नहीं और न ही वस्तुओं के विचारों पर समाप्त हो जाता है; और न ही विचार और वस्तु के बीच में यह दोलन करता है अपितु वस्तु और विचार के स्पष्ट समझ की प्रक्रिया में दर्शन उन सभी क्रियाओं का अतिक्रामी होता है। दर्शन के इतिहास के साथ दर्शन का तादात्म्य नहीं माना जा सकता। इसकी अपनी पहचान है जो गतिहीन नहीं है अपितु हमेशा सर्जनात्मक है और यही इसका अपना स्वरुप भी है। दूसरे इतिहास परम्पराओं, दर्शन का इतिहास और इतिहास के दर्शन से यह भिन्न है। दर्शन अनुचिन्तनात्मक क्रिया है। समस्याएँ चाहें वे व्यावहारिक हों या सैद्धान्तिक उन्हें दार्शनिक अनुचिन्तन ज्ञान के विषय के रूप में ही ग्रहण करता है न कि ज्ञान और अनुचिन्तन से परे किसी बाह्य या आन्तरिक वस्तु के रूप में।

14. दर्शन उच्चतम ज्ञानमूलक क्रिया है :–

दार्शनिक अनुचिन्तन में बोध, भाषा और सत् तीन प्रकार की पृथक् सत्ताएँ हैं ऐसा मानने वाले सिद्धान्तों में सम्बन्ध की जो समस्या उत्पन्न होती है दर्शन उसका समाधान भाषा और उससे प्रकाशित अर्थ को बौद्ध–सत्ता मानकर करता है। भाषा से प्रकाशित अर्थ भाषा से अनुबुद्ध होने के कारण निर्धारित होता है और प्रकाशित विषय होने के कारण यह स्वयं–सत्य या सच्चा होता है। यह अपने–आपमें सच ज्ञान होता है और यही कारण है कि भाषा द्वारा पूर्व में प्रकाशित बोध की सत्यता के बारे में दूसरे को विश्वास दिलाने हेतु ज्ञानमीमांसीय प्रमाणों, औचित्यों और साक्ष्यों के बोध–मूलक आधार के रूप में कार्य करता है। अगर बुद्धि प्रकाशित, ज्ञान निर्धारित और सच्चा नहीं होता तो दार्शनिक अनुचिन्तन में विश्वसनीयता और नेतृत्व सम्भव नहीं होता; अनुचिन्तन का विषय और उसका ज्ञानमूलक आधार नहीं होता और तब भाषा की शक्ति की स्वायत्तता का कोई अर्थ नहीं होता। ज्ञानमीमांसीय प्रमाण, सत्यापनीयता, निसंदिग्धता, मिथ्यापनीयता, योग्यता, अयोग्यता, उपयुक्तता और असंतोष इत्यादि पर आधारित सत्य और असत्य आनुभविक जगत् में वस्तुओं की उपस्थिति या अनुपस्थिति पर आधारित ज्ञान की तार्किक सत्यता और असत्यता के बीच एक भेदक के रूप में काम करता है। परन्तु सत्य के बारे में तार्किक या आनुभविक तरीके से दूसरों को

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आश्वस्त करने के लिये जो सत्यापनीयता, मिथ्यापनीयता या परीक्षण इत्यादि क्रियाएँ होती हैं उनका मूल आधार स्व–चेतन क्रिया में प्रकाशित ज्ञान होती है।

दर्शन के इतिहास में हम पाते हैं कि दार्शनिक कुछ ख़ास समयावधि में क्रमशः अन्तःप्रज्ञा, आस्था, तर्क, भावना और अनुभव से जुड़े रहे। प्रारम्भिक ग्रीक,जैसाकि हम पाते हैं सुकरात, प्लेटो और अरस्तु में प्रातिभज्ञान, मध्यकालीन दर्शन में आस्था तथा आधुनिक दर्शन के इतिहास में हम प्रत्यक्ष और अनुमान का प्रभुत्व देखते हैं। ये दर्शन मानवीय अनुभव, आस्था और ज्ञान की स्थितियों पर चिन्तन और विश्लेषण करते हैं। समकालीन पाश्चात्य दर्शन एक जबरदस्त विश्लेषणात्मक तर्क से युक्त अनुभव की समीक्षा के रूप में चिन्हित किया जाता है। ज्ञान के स्वरूप और क्रियाओं में भाषा के स्वरूप और कार्य तथा समग्रता–मूलक दार्शनिकीकरण के लिये उचित विषय के निर्धारण पर दार्शनिक अनुचिन्तन की सम्भावना अभी भी दार्शनिकों के लिये खुली हुई है, और हम सभी उमीद करते हैं कि विश्लेषणात्मक प्रतिभा के साथ दार्शनिकों की बुद्धि भविष्य में इन उचित दार्शनिक विषयों पर अपना अनुचिन्तन स्थिर करेगी।

क्या चेतना पर अनुचिन्तन होने के कारण दर्शन सर्वोत्कृष्ट ज्ञान सम्बन्धी क्रिया है?अनुचिन्तनात्मक चेतना उसी क्षण अनुचिन्तनात्मक क्रिया का विषय नहीं होती। बहरहाल अपने–आपमें–चेतना अपने अनुचिन्तन का अतिक्रामी होती है और इस तरह यह कहना सम्भव नहीं होगा कि स्व–चेतन क्रिया में स्वयं चेतना विषय बनती है। अपने–आपमें–वस्तु तत्त्वमीमांसीय हो या भौतिक हो अनुचिन्तनात्मक क्रिया की अतिक्रामी होने से वह ध्यान का विषय हो सकती है और इसीलिये एक अर्थ में धर्म का विषय हो सकता हैं। लेकिन तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त अवधारणाएँ विचार और अनेक प्रकार के मत और उनसे पैदा होने वाली समस्याएं इस अनुचिन्तनात्मक क्रिया के समुचित विषय बनते हैं। समस्या जो अनुचिन्तन के लिये प्रेरित करती है यथा– संशय, असंगतता, अपर्याप्तता और गलत सामान्यीकरण अथवा इनमें से कोई भी अवधारणात्मक समस्याओं में ही सन्निहित होती है और उन पर अनुचिन्तन करने का उद्देश्य उन संशयादि समस्याओं को दूर करना होता है ताकि सम्प्रत्यय की समझ और स्पष्टता हो सके। इस तरह से दार्शनिक क्रिया होते रहने का एक सतत् भविष्य है और इसीलिये दर्शन की मृत्यु की अटकले अनावश्यक है। यह अनुचिन्तनात्मक था, अनुचिन्तनात्मक क्रिया है और रहेगा।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संक्षेप में, "कोई समस्या अपने आप में समस्या है" इस विचार को आधार करके दिये जाने वाले विषयीनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ चिन्तनों से दार्शनिक अनुचिन्तन भिन्न होता है। दार्शनिक अनुचिन्तन के लिये कोई भी समस्या अपने आप में समस्या नहीं होती। हर समस्या स्व–चेतन मनुष्य की समस्या होती है। बुद्धि में जो समस्याएँ प्रकाशित होती हैं वे बोधगम्य–सत्ताएँ होती हैं; वे स्वभावतः बोधरूप अर्थात् विचार रूप होती हैं और बोधरूपता की वजह से ही उन पर स्व–चेतनात्मक क्रियाएँ सम्भव होती हैं। जब वस्तु विषयक चेतना विराम लेती है तो अनुचिन्तनात्मक चेतना आरम्भ होती है और जब अनुचिन्तनात्मक चेतना विराम लेती है तो वस्तु विषयक चेतना आरम्भ होती है। विषयीगत और विषयगत इन दोनों चेतनाओं में अन्तर है। पहले में चेतना स्वयं की ओर देखती है जबकि विषयगत चेतना वस्तुनिष्ठ होती है। पहली चेतना मनन या ध्यान से अलग नहीं है जबकि दूसरी वस्तु की चेतना होती है। वे सभी समस्याएँ जो दोनों प्रकार के चिन्तनों से उत्पन्न होती हैं अनुचिन्तनात्मक चेतना की समस्याओं के अन्तर्गत सम्मिलित होती हैं। दार्शनिक अनुचिन्तन का यह स्वरूप दूसरी विधाओं से एक तरफ दर्शन को पृथक् करता है तो दूसरी ओर धर्म दर्शन, समाज दर्शन, कला दर्शन, इतिहास दर्शन, विज्ञान दर्शन को स्पष्ट रूप से दर्शन के क्षेत्र में सम्मलित करता है। दयाकृष्ण का यह निरीक्षण समुचित है कि "इसकी एक भूमि है, क्षेत्र है, समस्याओं का एक समूह है जिसको एक नाम देने की जरूरत है और हम इसे दर्शन नाम देते हैं, जो ठीक प्रकार से इस कार्य को कर सकता है।"[6]

15. क्या दर्शन एक स्वशासी क्रिया है :–

स्वशासी के रूप में दर्शनशास्त्र का विचार, दर्शन क्या नहीं है? इस प्रश्न पर अनुचिन्तन के लिये एक बिन्दु बनाता है। प्रायः यह माना जाता है कि दर्शनशास्त्र की कोई निश्चित परिभाषा नहीं है। विभिन्न विचारकों ने अपने–अपने मतों और सिद्धान्तों की वासना से इसकी भिन्न–भिन्न अवधारणाएँ दी हैं। जो भी हो सभी इस बिन्दु पर सहमत हैं कि कोई मान्यता, कोई प्राधिकार, किसी विचार के प्रति दुराग्रह या किसी न्यास या किसी पूर्वमान्यता से दार्शनिक अनुचिन्तन स्वतन्त्र या निरपेक्ष होता है। यह निगमन या आगमन की तार्किक बुद्धि मात्र नहीं है क्योंकि उनकी निर्विवादिता, स्पष्टता और उचित समझ के लिये यह उन पर भी अपने उत्कर्ष का प्रयोग करता है। यह न तो किसी दार्शनिक और न ही किसी दार्शनिक विधा के प्रति समर्पण में विश्वास करता है अपितु उनके द्वारा जो

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कथन और विचार प्रस्तुत होते हैं भिन्न–भिन्न सैद्धान्तिकरण से जुड़ी उनकी जो समस्याएँ होती हैं उन्हें प्रकाश में लाने और बौद्धिकता के किस स्तर पर उनकी पहुँच है उसे भी उजागर करता है।

क्या दर्शन भाषा सत् और विचार से स्वतन्त्र स्वशासी शक्ति है? यह एक आत्म–विरोधी प्रश्न है। विद्वान् लोग यह मानते हैं कि भाषा विज्ञान, वाक्य–विन्यास, अर्थ–विन्यास और दूसरे तरह के अध्ययनों को बिना अन्तराश्रय के उनका पृथक् और निरपेक्ष प्रणाली के रूप में अध्ययन किया जा सकता है। स्वायत्त शक्ति को हम दो अर्थों में समझते हैं एक आन्तरिक और दूसरा बाह्य। पहले अर्थ में स्वशासी वह है जो नियमों से बना हो। अगर हम इस स्थितिं को मानें तो हर चीजें अन्तराश्रित होगी। दूसरे अर्थ में यह पद सत्तात्मक रूप से सत् और विचार से निरपेक्ष के लिये प्रयुक्त होता है। हमारे मत में जो स्वशासी होता है, वह अपने सर्जना के लिये किसी दूसरे सत् या विचार पर निर्भर नहीं करता। भाषा के विभिन्न कार्यों संज्ञानमूलक और असंज्ञानमूलक की दृष्टि से हमें एक विखण्डित स्वशासी की अवधारणाएँ देखने को मिलती हैं। अर्थात् जब भाषा असंज्ञानात्मक कार्य करती है, उदाहरण के लिये आश्चर्य, हर्ष, पीड़ा आदि व्यक्त करने वाला अर्थ व्यक्त करती है तो स्वशासी होती है और अर्थ व्यक्त करने की संज्ञानात्मक क्रिया के लिये प्रयुक्त होती है तब यह अ–स्वशासी होती है। परन्तु मेरे मत में दार्शनिक दृष्टि से विखण्डित स्वशासी स्वशासी नहीं हो सकती है। भाषा स्वतन्त्र होती है और विचार से भिन्न नहीं होती, यह स्वयं विचार ही होती है। उत्कृष्ट ज्ञानमूलक क्रिया होने से दर्शनशास्त्र सभी प्रकार के अनुशासनों से सम्बन्धित विषयों पर बिना किसी भेदभाव के अनुचिन्तन करता है। दर्शन स्वतः अनुचिन्तनात्मक होता है, अनुचिन्तनात्मक क्रिया के लिये भाषा और विचार बौद्ध–सत्ताएँ (या विचार रूप) है और भाषा जिस रूप में सत् को प्रस्तुत करती है, वही सत् है।इस रूप में भाषा और उसके अर्थ का प्रकाशन भाषा से ही होता है। विचार रूप में भाषा और सत् विचार के विषय बनते है। इस प्रकार दार्शनिक क्रिया में चिन्तन की विचार से अतिरिक्त किसी वस्तु पर निर्भरता नहीं होती है।

वास्तव में, दार्शनिकों का सम्बन्ध आन्तरिक या बाह्य वस्तुओं से न होकर उन विषयों से होता है जो ज्ञान में प्रकाशित होते हैं। हम आँखों से वस्तुओं का प्रत्यक्ष करते हैं और जिन वस्तुओं का प्रत्यक्ष करते हैं, उनसे इन्द्रिय प्रदत्त या संवेदन प्राप्त करते हैं और उन इन्द्रिय प्रदत्त या संवेदन के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आधार पर बुद्धि ज्ञान के विषय को संरचित करती है। पर मेरी समझ में ज्ञान का विषय बोधमूलक इकाई होती है। यह बोधमूलक विषय होता है और वस्तु सत् की संवेदना से पृथक् होता है। इसकी संवित् सत्ता (बौद्ध–सत्ता) होती है। यह न तो बुद्धि द्वारा अमूर्तीकृत और न ही बुद्धि से संरचित सत्ता है। यह ध्वनियों, लिपियों, इन्द्रिय प्रदत्तों के माध्यम से साक्षात् प्रकाशित सत्ता (विषय) है। यह भाषा के द्वारा प्रकाशित होती है और भाषा इन्हें वस्तु तथा वस्तु की हमारी वासना पर आश्रित हुये बिना ही इसे प्रकाशित करती है। इन विषयों से ही दार्शनिकों का सम्बन्ध से होता है। दार्शनिकों के चिन्तन का समुचित विषय सम्प्रत्यय या विचार अर्थात् भाषा और उससे प्रकाशित अर्थ का विचार होता है। भाषा और अर्थ बोध–स्वरूप विषय है और यही विषय हमारे अनुचिन्तन के विषय हैं। कोई भी चीज जो बुद्धि में प्रकाशित न हो, वह दर्शन का विषय नहीं हो सकती। इसी तरह सम्प्रत्ययों के अवधारणीकरण से सम्बन्धित सैद्धान्तिक समस्याएँ, सैद्धान्तिकरण में निहित असंगतताएँ, शंकाएँ और परस्पर विरोध के विचार इत्यादि बौद्ध–सत्ताएँ हैं, इन्हें भाषा प्रकाशित करती है और वे ही दार्शनिक अनुचिन्तन के विषय हैं और उनके लिये हम अपने–आपमें–वस्तु के विरुद्ध बौद्ध–सत्ता शब्द का प्रयोग करते हैं। कोई भी समस्या बाह्य नहीं होती, सभी समस्याएँ स्वरूपतः वैचारिक होती हैं और इसीलिये हम उनका विश्लेषण कर पाते हैं; स्व–चेतन क्रिया के द्वारा उन्हें स्पष्ट करते हैं और उनका समाधान करते हैं। हम एक अनुचिन्तनात्मक क्रिया में विषय के प्रति जागरूक होते हैं। ऐसे विषयों के प्रति जागरूक होते हैं जो स्वरूपतः बोध्य या बोधमूलक होती है; इस तरह बौद्ध–सत्ताएँ ज्ञान के विषय हैं क्योंकि उन्हें भाषा प्रकाशित करती है। भाषा प्रथमतः अपना प्रकाश करती है और उससे अभिन्न रूप में अर्थ का प्रकाशन होता है।

16. दर्शन की व्यावहारिक उपयोगिता :

वर्तमान चर्चा का दूसरा पक्ष दार्शनिक चिंतन की व्यावहारिक उपयोगिता से सम्बन्धित है। मानवीय अनुभवों और तथ्यों की स्थिति पर अनुचिन्तनात्मक क्रिया ही दर्शन नहीं है बल्कि मानव की आवश्यकताओं, आकांक्षाओं और प्रेरणाओं पर भी यह अनुचिन्तन करता है। प्राच्य और पाश्चात्य दार्शनिक परम्पराएँ ज्ञान को मात्र बौद्धिक तर्कणा, सूचना, आगमन, निगमन, गणना, संगणना (अनुगणना) इत्यादि ही नहीं, बल्कि मूल्य (सद्गुण) भी मानती हैं और इसीलिये दर्शन औपचारिक तर्क या शुष्क तर्क

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तक ही सीमित नहीं है, बल्कि यह मूल्य है और इसीलिये यह व्यवहार्य भी है। पतंजलि ज्ञान को धर्म के रूप में परिभाषित करते हैं।[7] विवेक ज्ञान जिसमें व्यक्ति और समाज के ज्ञान और संस्कार भी सम्मिलित होते हैं, के रूप में इसे सीखना चाहिये।[8] विद्वानों, साधु–सन्तों, ऋषियों, मुनियों और सज्जनों की परम्पराओं ने जो जीया, उसी का उपदेश दिया। मानव जाति के कल्याण के लिये वे जो सोचे, चिन्तन किये, उसी का अभ्यास किये, व्यवहार किये। उनकी शिक्षाएँ शुष्क ज्ञान के लिये न होकर ज्ञान और ज्ञान के संस्कार तथा विश्वकल्याण के लिये, सामाजिक और व्यक्तिगत चेतना के संस्कार के लिये, विवेक की स्थिति तक सुसंस्कृत करने के लिये और उससे भी अधिक अज्ञान से मुक्ति के लिये होती है। पतंजलि ने लिखा है– "ज्ञानं ही तस्य शरणम्" अर्थात् व्यक्ति का परम आश्रय ज्ञान ही है।[9] ज्ञान में ही उनको शरण मिलती हैं और ज्ञान ही हमारे कर्तव्यों का प्रेरक है। मानवीय आकांक्षाएँ और अपेक्षाओं और उनकी सन्तुष्टि के लिये दार्शनिक चिन्तन की व्यवहारिक उपयोगिता को ध्यान में रख कर दर्शन पर एक वार्ता प्रासंगिक रूप से की जा सकती है।

सभी लोग इसे जानते हैं या जानने की इच्छा रखते हैं कि क्या करना हितकर है और क्या करना हानिकारक है जिससे बचा जा सके। यह एक तरह का विवेक बुद्धि है और हर मामले में इसे निर्णित करने की जरूरत होती है। अगर इसका निर्णय नहीं हुआ तो व्यक्ति वस्तुओं के प्रति वासनात्मक हो जायेगा और वैचारिक स्तर पर भ्रमित होगा। आज के समय में विज्ञान और तकनीक के विकास के साथ भौतिक उपलब्धियाँ आम लोगों को अधिक से अधिक आकर्षित कर रही हैं क्योंकि ये लोग एक भ्रमित जीवन जी रहे हैं और अपने जीवन से दूर होते जा रहे हैं। तकनीक की उन्नति के साथ व्यक्तिगत और सामाजिक उन्नति के लिये अधिकांश समय बचा लेने में वे सफल हुये हैं। किन्तु, इस बात को सोचने के अवसर को वे गवा रहे हैं कि किस तरह ऐसी व्यवस्था उनके समय, उनकी स्मृति, उनकी अन्वीक्षा और संरचनात्मक बुद्धि को प्रभावी रूप से नष्ट कर रही है। इस बात पर चिन्तन के लिये समय निकालने में वे असफल रहे हैं। दार्शनिक समझ और अनुचिन्तन को प्रोन्नत करने का सही समय और आवश्यकता है जिससे वे अपनी स्मृति को बचाने में ही नहीं अपितु, पागलपन की सीमा तक किये जाने वाले बहुकार्यण (मल्टीटास्किंग) के विरुद्ध विचारों की प्राथमिकता को भी समझने तथा अपने जीवन और कार्यों के अच्छे मार्गदर्शक के रूप में बुद्धि को साधित करने में सफल हो सकें।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

17. क्या दर्शनशास्त्र, विज्ञान और दूसरे तन्त्रों का मार्गदर्शक है :–

चूँकि संसार भौतिकवादी रूप से प्रायोगिक हो रहा है इसलिये प्रश्न उठता है कि क्या दर्शन भविष्य में प्रायोगिक विधा के रूप में उभरेगा? मैं इस बात के पूर्णत विरुद्ध हूँ कि प्रबन्धकीय विज्ञान, स्वास्थ्य विज्ञान, तकनीकी आदि के रूप में यदि हम दर्शन को प्रस्तुत करे, तो यह किसी उपयोग का हो सकेगा क्योंकि तब तो दर्शन अपनी ही पहचान खो देगा और इससे दर्शन की क्षति होगी। बेहतर तकनीक के लिये विचारों का प्रबन्धन एक अच्छा विचार है। इसमें शंका नहीं है कि दर्शन विचारों को संगत ढ़ग से व्यवस्थित करता है, पर तब तो यह केवल उपचारार्थक ही होगा। किसी चीज को बेहतर ढ़ग से प्रबन्धन करने में बाधक जो समस्याएँ आती है उन्हीं समस्याओं से इसका सम्बन्ध होगा। लगभग तीन दशक पहले, दर्शन प्रबन्ध और तकनीकी का मार्ग–दर्शक होता था। दार्शनिकों के लिये दार्शनिक ज्ञान किसी सैद्धान्तीकरण से बोझिल दृष्टि, अनुभव या इन्द्रिय संवेदन नहीं होता। वह इस तरह के सैद्धान्तिकरण के दबाव से और शारीरिक, मनोवैज्ञानिक और तात्त्विक अनुबद्धता की वासनाओं से स्वतन्त्र होता है। दार्शनिक चिन्तन तत्त्वमीमांसीय और सांस्कृतिक रूढ़ियों और अन्धविश्वासों के प्रति हमारी वासना, सैद्धान्तिक दबाव, अस्पष्टताएँ और संशयों से मुक्त करता है। मोटे तौर पर तत्त्वमीमांसीय वस्तुओं से मेरा तात्पर्य ज्ञान से पृथक् अपने–आपमें–वस्तु चाहें वह अतीन्द्रिय हो या आनुभविक हो से है। हमारी वासनाओं से वैचारिक स्वतन्त्रता ही सही अर्थ में दार्शनिक कर्म का औचित्य है।

दर्शन को प्राथमिकता देना समय की मांग है। सभी जानते हैं कि आग जला सकती है, पर आग का विचार नहीं जलाता। 'आग के विचार' को स्पष्ट करने के लिये जो दार्शनिक अनुचिन्तन होता है। वह विवेक का आधान करता है। उपकरण खाना नहीं पका सकते पर खाना बनाने वाला व्यक्ति उन उपकरणों का व्यवस्थित तरीके से उपयोग कर सकता है। संक्षेप में, दर्शन को प्रबन्धशास्त्र, समाजशास्त्र और ऐसे ही अन्य प्रायोगिक पहचान रखने वाले शास्त्रों में न तो बदला जा सकता है और न ही बदलना चाहिये। प्रायोगिकता को तात्त्विक समझ सम्बन्धी अनुचिन्तन का उत्पीडक नहीं होना चाहिये। इसकी अपेक्षा मेरी सोच है कि एक तरफ दार्शनिक अनुचिन्तन अन्य शिक्षा तन्त्रों को सम्पन्न करने में और मानवीय मूल्यों को आगे बढ़ाने में काम करता है और दूसरी तरफ अहंवादिता, सामाजिकीकरण, धार्मिकी–करण, सायबरोलॉजी, और बहुकार्यण की प्रवृत्तियाँ जो कि उत्तरोत्तर मानव

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

व्यक्तित्व को एक साइबर इकाई के रूप में विकृत करने का प्रयास कर रही हैं उन खतरों के विरुद्ध एक अच्छे प्रतिरक्षक के रूप में दर्शन संजीदगी से काम कर सकता है। आवश्यकता है कि दार्शनिक चिन्तन से उनका गठजोड़ किया जाय। अगर विज्ञान को दर्शन का साथ मिल जाये तो यह अपने उपकरणों का प्रयोग पृथ्वी पर जीवन को सुरक्षित करने और उन्नति की ओर ले जाने में करेगा। यह सर्वोच्च मूल्य रखने वाली मानवता के नाश के लिये अपने परमाणु अस्त्रों का प्रयोग नहीं करेगा। वाणिज्य और प्रबन्धन को यदि दर्शन से जोड़ दिया जाये तो यह पूँजी, श्रम और समय का दुरुपयोग नहीं करेगा और अव्यवस्था और विनाशक उग्रचादी गतिविधियों को उन्नत करने वाले डेटा को देने से बचेंगा। उसका प्रयोग ये विवेक और जीवन कल्याण के लिये करेंगे। तकनीक मनुष्य को मशीनी इकाई के रूप में न बदल करके उसकी सर्जना शक्ति को उन्नत करने और मानवीय सम्बन्धों को जीवन्त बनाने का प्रयास करेगा।

दर्शन की उपयोगिता पर कोई विमर्श हमारी चेतना के ढ़ाचे की बहुत गहराई में निहित शारीरिक, मनोवैज्ञानिक, तात्त्विक और सांस्कृतिक वासनाओं जो हमारे चिन्तन और अनुचिन्तन को गुमराह करने के हद तक प्रभावीत करती है और निष्कर्षों को संशयात्मक बनाती है जिससे व्यक्ति और समाज में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है, उनसे विचारों को स्वतन्त्र करने की हमारी आकांक्षाओं को अपनी परिधि में शामिल करती है। अनुचिन्तनात्मक विश्लेषण के रूप में दर्शन आरोपित और मिश्रित रहस्यों से वास्तविक या सत् को पृथक् करने में सहयोग करता है। दार्शनिक अनुचिन्तन विभिन्न प्रकार की वासनाओं से हमारे विचारों को मुक्त करता है। यह अज्ञान से मुक्ति है और विधानात्मक रूप से विवेक का मार्ग है।

18. क्या दर्शन विवेक विद्या है :—

वैचारिक प्रक्रिया जीवन का मार्गदर्शन करता है और यह मार्गदर्शन भिन्न—भिन्न अवधि से सम्बन्धित लोगों के जीवन के वैशिष्ट्य और गंतव्य को निर्धारित करता रहा है। भारत में दर्शन को एक शुष्क व्यायाम के रूप में कभी भी नहीं लिया गया। ऋषि—मुनियों ने जो जीया उसी का उपदेश दिया। विचारों को हमारी बुद्धि की विभिन्न तरह की वासनाओं से निरपेक्ष और तटस्थ अवश्य होना चाहिये अन्यथा वे चिन्तन प्रक्रिया को दिग्भ्रमित कर सकते हैं। अपने अन्दर विवेक के अभ्युदय के लिये उपयोगी चिन्तन और विचारों का खुलापन हमारे आत्मचेतन क्रियाओं में प्रकाशित होना

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चाहिये। हित–प्रतिसाधन और अहित–प्रतिषेध का विवेक दार्शनिक अनुचिन्तन से होता है जिसके प्रकाश से वंचित होने पर न तो समाज और न ही व्यक्ति उचित ढंग से संचालित हो पायेंगे।

बहुत से कारक हैं जो हमारे चिन्तन को दूषित या बीमार कर सकते हैं। 'बीमार चिन्तन प्रक्रिया' पद से मेरा तात्पर्य भावनाओं और वासनाओं से भ्रमित या संशययुक्त, प्रक्षिप्त मतों या पद्धतियों से है। मस्तिष्क अथवा शरीर की दवा लेकर,शल्य चिकित्सा कराकर, रत्न धारण कर, देवताओं को आहुति देकर या मनोविश्लेषण के द्वारा बीमार विचारों को ठीक नहीं किया जा सकता है। विचारों की बीमारी रोगी को शंकालु, हताश और बेचौन अज्ञानी बना देती है। दर्शन जो विचारों का एक चिकित्सीय तन्त्र है, के द्वारा ही विचारों की चिकित्सा की जा सकती है। विचारों की चिकित्सा के रूप में भारत में जो दार्शनिक सम्प्रदाय हैं वे अत्यन्त ही प्रायोगिक और व्यावहारिक तन्त्र हैं जिनमें नैतिकता, बौद्धिकता और आध्यात्मिकता क्रमशः अभियान्त्रिकी, प्रबन्धकीय और तकनीकी के रूप में वैचारिक रोगों के चिकित्सक हैं जिनके कारण हम दर्शन को उचित और अर्थपूर्ण ढंग से अध्यात्म–विज्ञान कहते हैं।

उपयोगिता की दृष्टि से दार्शनिक सम्प्रदायों की समस्या दोष या विचारों की बीमारी को दूर करना है जिसके लिये तत्त्वमीमांसा, प्रमाणमीमांसा, मूल्यमीमांसा, इत्यादि की समस्याएँ अनुचिन्तन के विषय होते हैं। इन सम्प्रदायों की समस्या दुःख, दुःख का स्वरूप और दुःख दूर करने के उन उपायों को जानने की होती है जिनका प्रयोजन विवेक के अभ्युदय के लिये साधन के रूप में काम करना है। इन सम्प्रदायों में चिन्तन और विचारसम्बन्धी दोष दुःख के एकमात्र कारण होते हैं जिसके विरुद्ध दर्शन ही एकमात्र चिकित्सा है।

इसमें संशय नहीं है कि आधुनिक वैज्ञानिक और तकनीकी युग में प्रबन्धन एक निर्देशक की भूमिका में है क्योंकि यह विज्ञान और तकनीक को डेटा और आधारभूत संरचनाएँ देता है। ऐसी स्थिति में आजकल प्रायोगिक, पर्यावरणीय, नैतिक, राजनैतिक, धार्मिक मुद्दों और प्रोफेसनल दर्शन का विचार ख़ास करके भारत में शोध–कार्यों और पाठ्यक्रमों की तरफ तेजी से आकर्षित कर रहा है।

यह सोच गलत है कि दर्शन का कार्य सीमेंटिंग (cementing) का है दर्शन सीमेंटिंग में विश्वास नहीं करता। बल्कि किसी सम्प्रत्यय की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अवधारणा करने में जो सैद्धान्तिक समस्याएँ होती हैं उनको खोद के बाहर निकालता है। अगर व्यवहारिक के नाम पर हम दर्शन को नैतिकता, योगासनों और आध्यात्मिक तकनीकी का प्रबन्धन मानें तो यह गैर–दार्शनिक क्रिया होगी और तब उच्चकोटि के बोध मूलक क्रिया के रूप में दर्शन की निरपेक्षता पर प्रश्न उठेगा। उस स्थिति में नीति दर्शन, समाज दर्शन, इतिहास दर्शन, तकनीकी दर्शन जैसे अध्ययनों की संभावना नहीं बन पायेगी।और तब इसका तात्पर्य क्या दार्शनिक अनुचिन्तन के इतिहास में एक दुर्भाग्यपूर्ण अध्याय नहीं होगा?

19. क्या दर्शन ज्ञान का प्रत्यावलोचन है :–

ज्ञान अखण्ड है और मात्र विश्लेषण के द्वारा ही इसे उन लोगों को समझाया जा सकता है जो लोग अखण्ड को खण्डों के माध्यम से ही समझ सकते हैं। अखण्डज्ञान के विश्लेषण के बिना कोई भी व्यवहार (अभ्यास), कोई भी व्याकरण सम्भव नहीं होगा। वैज्ञानिक लोग बाह्यपदार्थों को परमाणुखण्डों में तोड़कर विश्लेषण करते हैं। मनोवैज्ञानिक मानसिक वृत्तियों के आधार पर अनुमानित करके मस्तिष्क के मनोभावों का विश्लेषण करते हैं। पर दार्शनिक लोग ज्ञान (जिसमें वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक ज्ञान सम्मिलित हैं) का जिस रूप में वह कथनों से प्रकाशित होता है उस रूप में विश्लेषण करते हैं। विश्लेषण के लिये एक ज्ञानमूलक आधार की आवश्यकता होती है और जो बोध रूप विषय हैं वे ही विश्लेषण के विषय होते हैं। अगर ऐसा न हो तो विश्लेषण किसी दार्शनिक उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकता। क्रियाओं के आधार पर बुद्धि की वर्गणाओं के अनुमान से अथवा किसी इच्छा की सन्तुष्टि से आनन्द की प्राप्ति नहीं होती। आनन्द की प्राप्ति समस्या के स्पष्ट बोध और ज्ञान के प्रकाशित होने में निहित होती है। अनुचिन्तनात्मक क्रिया में ज्ञान और विषय के ज्ञान का ज्ञान दार्शनिक विश्लेषण के आधार का काम करते हैं। चूँकि ज्ञान 'अपने–आपमें' अविभाज्य है इसलिये विश्लेषण अखण्ड को खण्ड के माध्यम से नवसीखियों को सीखाने के उपाय के रूप में ही नहीं बल्कि उसे पारदर्शी बनाने, सहमति बनाने और बौद्धिक सन्तुष्टि के लिये भी हमें सुगमता प्रदान करता है जिससे हमें अन्ततः आनन्द की प्राप्ति होती है। दार्शनिक अनुचिन्तन की आनन्द प्रदायक चरित्र के कारण ही पूर्व और पश्चिम में सभ्यता और संस्कृति के अभ्युदय के साथ दर्शन अध्ययन और अनुसंधान का एक प्रसिद्ध तन्त्र रहा है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

20. विश्लेषण, सहमति और समाधान की विधा के रूप में दर्शन :–

वैयाकरणिक, भाषा–शास्त्रीय, भाषा विन्यास, अवधारणात्मक और अन्य प्रकार के विश्लेषणों से भिन्न दार्शनिक विश्लेषण किसी समस्या की मूल संरचना के तह तक जाती है; फिर चाहें वह समस्या विज्ञान की हो या धर्म की। दार्शनिक विश्लेषण समस्या की परिसमाप्ति के हद तक उसे सरल टुकड़ों में विश्लेषित कर देती है। समस्या वास्तविक है या आरोपित है इसका निरीक्षण करने में यह सहयोगी होता है। समस्या का विश्लेषण और सहमति बनाने में तथा उसे सामान्यीकृत करने में यह अग्रणी कदम होता है। सत् का कोई विरोध नहीं होता और अगर समस्या असत् या आरोपित हो तो दार्शनिक छानबीन से इसे हल किया जा सकता है। उदाहरण के लिये दो सम्प्रदायों के दो व्यक्तियों के बीच उत्पन्न विवाद की समस्या को लेते हैं। पहले के पास "एकमात्र ही ईश्वर है और खुदा के सिवाय ईश्वर नहीं है" ऐसी धार्मिक जिद है जबकि दूसरे का विचार है कि "एकमात्र भगवान् ही ईश्वर है" और शब्दों के प्रयोग में उनकी धर्महठता है। ईश्वर की सत्ता के लिये प्रयुक्त शब्दों को लेकर अपने–अपने पसंद के शब्द के प्रयोग की उनदोनों की जिद इस कदर बढ़ जाती है कि वह पहला जो दूसरे के पसंद के शब्द को उच्चारित नहीं करता अथवा वह दूसरा जो पहले के पसंद के शब्द को उच्चारित नहीं करता उसको घायल करता है। वे लोग ईश्वर या खुदा शब्दों के प्रयोग की असहमति को लेकर सहमत नहीं होते और तब आपसी झगड़ों की ज्वाला साम्प्रदायिक दंगों का रूप लेती है। इस तरह के लड़ाईयों को समाप्त करने में दर्शन का प्रयोग किया जा सकता है। अगर वहाँ कोई दार्शनिक है तो वह दोनों प्रतिद्वन्द्वियों को बातचीत के लिये आमंत्रित कर सकता है। शब्द के अर्थ के जिस प्रयोग को लेकर वह लड़ते हैं उसका विश्लेषण करेगा। यह विश्लेषण निम्न प्रक्रिया में हो सकती है। ईश/खुदा इस पद से वे क्या समझते हैं? क्या यह सृष्टि का कर्त्ता है? क्या उसने इस ब्रह्माण्ड की रचना की है? क्या यह ब्रह्माण्ड चेतन और अचेतन का मिथुनीकृत हैं? क्या वह ब्रह्माण्ड के सभी प्राणियों जिसमें आप और मैं दोनों शामिल हैं, का कर्त्ता है या केवल आप ही का स्रष्टा है? वह एक है या अनेक है? क्या वह ब्रह्माण्ड का पालक और संहारक भी है? क्या वह न्यायमूर्ति है और पितरों का भी प्रिय पिता है? मेरी समझ में दोनों प्रतिद्वन्दी इन बातों पर सहमत हो जायेगे। पुनः दार्शनिक व्यक्ति उनके परस्पर भेदों पर बातचीत आमंत्रित कर सकता है। क्या खुदा या ईश्वर को सत् मानना

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विवाद का कारण है या सत् के लिये आप जो भाषा प्रयोग करते हैं, वह विवाद का कारण है? चूँकि पृथक् सम्प्रदाय दो अलग शब्दों का प्रयोग करते हैं और पृथ्वी पर अनेकों समुदाय हैं जो उसी सत् के लिये अलग–अलग शब्दों का प्रयोग करते हैं। इस तरह झगड़े का कारण सत् नहीं है। अगर विवाद 'खुदा','ओऽम्' या अन्य ऐसे ही भाषीय भेदों से सम्बन्धित है तो यह तो नाम से सम्बन्धित है और एक ही परम्परा में ईश्वर के अनन्त गुण होने के कारण उसे अनेक नामों से पुकारा जाता है। उसी परम सत् के लिये लोग भाषा में सैकड़ों शब्दों का प्रयोग करते हैं; यदि ऐसा है तो समस्या सत् से सम्बन्धित नहीं है। अपितु बोलने के स्वर, प्रतीक, चिन्हों और उनके प्रयोग की परम्परागत भेद के हठ से सम्बन्धित है जो कि सत् या ईश्वर पर आरोपित मात्र हैं। "दर्शन की मान्यता है कि जो आरोपित होता है उसे दूर किया जा सकता है और इस तरह के आरोपण से सत् प्रभावित नहीं होता है। दार्शनिकों को पुजारियों, मौलवियों, पुरोहितों और पैगंबरों के झूठे जुमलों से नहीं खेलना चाहिये, जो काम उनका नहीं है उसके बारे में लोगों को धोखा देने की अपेक्षा यदि उन्हें अपने काम में शर्म आती है तो उस काम को उन्हें छोड़ देना चाहिये।"[10]

सम्प्रत्यय के प्रदत्त होने और भाषा द्वारा सम्प्रत्यय के प्रकाशित होने में अन्तर है। सम्प्रत्यय का प्रकाश हमारी क्रियाओं और सामान्य व्यवहार के प्रेरक–कारणरूप में कार्य करता है। अगर किसी सम्प्रत्यय को न मानें और इसे किसी अभिव्यंजक से प्रकाशित होना न स्वीकार करें तो ज्ञान नहीं होगा और तब प्रेरक के अभाव में क्रिया भी संभव नहीं होगी। दर्शनेतर तन्त्र इन सम्प्रत्ययों का इनके आधार पर जो क्रियाएँ होती हैं उनका अध्ययन करते हैं परन्तु, जिस रूप में सम्प्रत्यय बुद्धि में प्रकाशित होते हैं उसके स्वरूप और उनके विश्लेषण से दर्शन सम्बन्धित होता है। यह निरीक्षण करता है कि विभिन्न तन्त्रों से सम्बन्धित विभिन्न सिद्धान्त जिस रूप में सम्प्रत्यय प्रकाशित होता है उस रूप में उसके विभिन्न पक्षों को बताने में कैसे और कहाँ तक सफल है।

21. दर्शनशास्त्र प्रश्न करने की शक्ति को परिमार्जित और विकसित करता है :–

बौद्धिक भूख की सन्तुष्टि के लिये प्रश्न करने की हमारी क्षमता को परिष्कृत करने से अपरिहार्य रूप से जुडा हुआ दर्शनशास्त्र के अतिरिक्त कोई दूसरा विज्ञान नहीं है। चूँकि दर्शनशास्त्र उच्चकोटि के ज्ञान जहाँ

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संशय, असंगतियाँ, भ्रम और दूसरी पाबंदियों तथा अपनी रुचियों के प्रति गुलामी से आजादी, निर्धारण, व्यापकता, शुद्धता से सम्बन्धित होता है। इसलिये दार्शनिक विधा में निष्णात बुद्धि समस्याओं की गहराई तक पहुँचने के लिये तब तक प्रश्न करती है जब तक कि वह स्पष्ट न हो जाये। इसका तात्पर्य है कि यह बुद्धि के प्रश्न करने की क्षमता को परिष्कृत करता है। यह प्रश्न करने की प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक वह समस्या सभी पक्षों से स्पष्ट प्रकाशित न हो जाये। प्रश्न करने की प्रक्रिया तब दार्शनिक क्रिया होती है जब ज्ञान को प्रकाशित होने की दिशा में जो संशय, विरोध और दूसरे तरह के दोष को दूर करने में सहयोगी हो, न कि कोई सूचना प्राप्त करने के लिये या प्रश्न के लिये प्रश्न हो। प्रश्नं करने की शक्ति समस्या के निर्धारण और समाधान हेतु किसी व्यक्ति के जीवन को बौद्धिक रूप से सक्षम बनाती है। जब जीवन और चिन्तन से सम्बन्धित किसी समस्या से हम टकराते हैं तो प्रश्न करने की प्रक्रिया आरम्भ होती है और जब हमारी समझ उसके सम्बन्ध में साफ हो जाती है तब वह रुक जाती है। यह दार्शनिक प्रक्रिया जीवन की उपलब्धियों और तथ्यों तथा हमारी आकांक्षाओं और अपेक्षाओं से भी सम्बन्धित होती है; जिसका परिष्करण दर्शन और केवल दार्शनिक चिन्तन से ही हो सकता है। प्रश्न करना दर्शन नहीं है, यह समस्या की स्पष्टता तक पहुँचने के लिये सहकारी उपाय मात्र है। इसकी एक सीमा है और विश्वास दिलवाने तथा सहमति और असहमति बनाने में उपयोगी होती है।

22. एक चिकित्सकीय पद्धति के रूप में दर्शनशास्त्र की उपयोगिता :—

दर्शन के सभी सम्प्रदाय उपयोगी प्राविधिक चिकित्सा तन्त्र हैं जो अपने—अपने ढंग से रुग्णता और कारणों सहित दुःख के विच्छेदन को आश्वस्त करते हैं। सभी प्रकार के दुःखों को उत्पन्न करने वाली तीन प्रमुख रूग्णताएँ हैं। उनको हम इस तरह वर्गीकृत करते हैं— प्रथम, शरीर से सम्बन्धित, द्वितीय, भाषा से सम्बन्धित तथा तृतीय, विचार और विचार की प्रक्रिया से सम्बन्धित। आयुर्वेद और दूसरी चिकित्सा पद्धतियाँ शरीर की चिकित्सा से सम्बन्धित हैं। भाषा के गलत प्रयोग से बचने और आगमिक प्रयोग की सतता बनाए रखने ताकि विचार भ्रष्ट न हो सके इसके लिये भाषा और व्याकरण शास्त्र काम करते हैं। चिंतन को सही दिशा में आगे ले जाने तथा वैचारिक दोषों के विरुद्ध दर्शनशास्त्र एक चिकित्सा तन्त्र के रूप में कार्य करता है। हमारे विचार हमेशा स्वस्थ नहीं होते तथा भ्रमित और भटकी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बुद्धि से गलत निष्कर्ष पर भी पहुँच जाते हैं। समकालीन फेनामेनालॉजिकीय प्रविधि जन्म से विभिन्न प्रकार के अन्धविश्वासों और वासनाओं से विचारों और चिन्तन को स्वतन्त्र करने पर बल देती है। अपने आन्तरिक संरचना की गहराई में पड़े हुये अज्ञान और उससे उत्पन्न दुःख के कारणों की चिकित्सा के रूप में दर्शनशास्त्र ललचाने के हद तक व्यावहारिक तन्त्र है। वाक्यपदीय में आचार्य भर्तृहरि ने बहुत ही सुन्दर ढंग से दोषों और उन दोषों के विरुद्ध चिकित्सा तन्त्रों को बताया है ताकि सभी भिन्न–भिन्न तन्त्रों का प्रयोजन विशेषीकृत हो सके। इस कारिका के अनुसार जो भी शरीर, भाषा और विचार से सम्बन्धित दोष हैं उनका शुद्धीकरण क्रमशः काय–चिकित्सा के द्वारा जिससे आयुर्वेद और दूसरे चिकित्सा विज्ञान सम्बन्धित होते हैं, भाषा की शुद्धि व्याकरण से तथा अध्यात्मशास्त्र या दर्शनशास्त्र के द्वारा विचारों से सम्बन्धित दोष दूर होते हैं।[11] चिन्तन और विचारों की रुग्णता को दूर करने का एकमात्र उपाय दार्शनिक अनुचिन्तन है। यह किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व और जीवन को विवेकपूर्ण रूप में रूपान्तरित करता है।[12]

भारतीय दर्शन के आस्तिक और नास्तिक सम्प्रदाओं की मूल समस्या दुःख हैं। यह अज्ञान, भ्रम, संशय से उत्पन्न होती है। यही कारण है कि वे भारतीय दर्शन की मूलभूत समस्याएँ बनती हैं। बौद्ध दर्शन में चार आर्य सत्यों में प्रथम तथा जैन में पुद्गल का स्राव जो जीव अणु में प्रवेश कर बन्धनकारी बनता है और इसीलिये दुःखकारी है। सांख्य–योग, व्याकरण और आयुर्वेद सहित दूसरे आस्तिक सम्प्रदायों में दुःख को मूलभूत समस्या के रूप में देखा गया है और उसका निर्मूलीकरण इन दर्शनों का उद्देश्य है। वे एक प्राविधिकीय निदान में विश्वास करते हैं जो दुःख की ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति में सहायक होती हैं। हम मानव के गहरे अन्तस् में समाये हुये दुःख की उनके कारणों सहित चिकित्सा के चिकित्सालयों के रूप में इन दार्शनिक सम्प्रदायों को समझ सकते हैं।

हम पाते हैं कि भौतिकवादी चार्वाक सम्प्रदाय चाहें जितने भी इतिहास लेखकों के द्वारा उसके दर्शन को "खाओ, पीयो और मौज उड़ाओ" की एक स्वार्थवादी विचारधारा के रूप में गलत समझा गया हो, वर्तमान जीवन को स्वस्थ और सुखी रेखांकित करने में बहुत सचेत रहा है। पेट को खराब करने वाले गलत आहार को खाकर कोई सुखी जीवन कैसे जी सकेगा? वह इस सत्य के प्रति ज्यादा सचेत होगा कि उसका पेट कोई कूड़ादान नहीं है जिसमें कोई भी चीज जो यकृत (लिवर) को नुकसान

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पहुँचावें को रखा जाये। वह शराब (एल्कोहल) उत्पादों को पीते समय अपनी गुर्दा (किडनी) को स्वस्थ रखने की चिन्ता किसी से भी अधिक करेगा। विकृत मैथुन जिसमें अपनी सुरक्षा के प्रति वह आश्वस्त नहीं है, ऐसे एड्स से प्रभावित होने वाले खतरों से बचने के प्रति भी वह किसी और से अधिक सचेत होगा। वर्तमान में सुखी जीवन की पूर्व आवश्यकता के रूप में अपने प्रति और दूसरों के प्रति एक सन्तुलित नैतिक आचरण की आवश्यकता होती है और इस तरह का व्यवहार बिना स्वस्थ और संतुलित विचार के सम्भव नहीं होता है।

23. इच्छाओं का परिमार्जन एवं प्रबन्धन :—

भारतीय परम्परा के अनुसंधान सदैव से अभ्यासमूलक अथवा प्रायोगिक रहे हैं। जन्म से सौ बसन्त तक प्रत्येक व्यक्ति की दिनचर्या में दर्शनशास्त्र की उपयोगिता का विचार अपरिहार्य रूप से उन इच्छाओं के प्रबन्धन से जुड़ा है जो हमारे कर्तव्यों और नैतिक उत्तरदायित्व के प्रेरक होते हैं। मनुष्य एक परिवार में पैदा होता है; बुद्धि—विवेक के परिष्कार हेतु आश्रमों के जीवन को जीता है और अन्ततः उन आश्रमों में क्रमशः सभी चार कोटियों की इच्छाओं को जीते हुये एक—एक से मुक्त हो जाता है। अगर इच्छाओं का प्रबन्धन जीवन के कल्याण की दिशा में न हो तो वे विनाशक हो सकती हैं। असंतुष्ट इच्छाएँ विनाशक महामारी के समुदाय के रूप में बढ़ती है। चूँकि इच्छाएँ कर्तव्य की प्रेरक हैं उन इच्छाओं के परिष्करण को सनातन परम्परा दृष्टिगत करती है ताकि मानवीय प्रयत्नों और कर्मों को प्रबन्धित किया जा सके और व्यक्ति अपने जीवन के चारों पुरुषार्थों यानि प्रेय और श्रेय प्राप्ति की ओर क्रमशः अग्रसर हों सके। परम्परा के कुशल शिल्पकारों ने ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास इन चारों आश्रमों में क्रमशः जीये जाने वाले अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष कोटियों की इच्छाओं का प्रबन्धन किया है। पुरुषार्थ सिद्धरूपेण प्रदत्त अवस्थाएँ नहीं होते हैं। वे मानव के नियन्त्रित प्रयासों से अर्जित या सिद्ध किये जाते हैं। किसी कोटि की इच्छाएँ परितुष्ट होकर उस कोटि की पुरुषार्थ बन जाती है।

विभिन्न चार आश्रमों में जीने योग्य अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष कोटि में इच्छाओं का प्रबन्धन आश्रम विशेष से सम्बन्धी उस कोटि की इच्छाओं से परितुष्ट और धीरे—धीरे पुरुषार्थ के रूप में उनकी सिद्धि होती है। पुरुषार्थ—व्यवस्था अभ्युदय और अन्ततः निःश्रेयस की प्राप्ति के लिये माननीय इच्छाओं का प्रबन्धन हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आश्रमीय जीवन में इच्छाओं का जीना गृहस्थ आश्रम से आरम्भ होता है और वानप्रस्थ तथा सन्यास तक चलता है। आश्रम जीवन जीने के लिये सीखने और गार्हस्थ्य जीवन में प्रवेश के लिये प्रशिक्षित होने या योग्य होने की आवश्यकता होती है। ब्रह्मचर्याश्रम तो पूर्णतः विवेक प्राप्ति हेतु मार्गों और साधनों को सीखने या प्रशिक्षण प्राप्त करने तथा उन सभी कौशलों को ग्रहण करने का संस्थान है जो उसे गृहस्थ जीवन में प्रवेश के योग्य बनाता है। यह कौशल और विवेक के प्रशिक्षण प्राप्त करने का आश्रम है जिससे विभिन्न आश्रमों से सम्बन्धी अपनी इच्छाओं को जीने के निमित्त व्यक्ति अपने कन्धें को मजबूत बना सके। यह सौ बसन्त की जीवन–यात्रा की तैयारी करने का आश्रम है।

गृहस्थाश्रम के पच्चीस वर्षों की अवधि में व्यक्ति अपनी अर्थ और काम की इच्छाओं की संतुष्टि के लिए अभ्यास करता है। इन इच्छाओं को ठीक से संतुष्ट करना इन्हें पुरुषार्थ बनाता है और जब ये इच्छाएँ पुरुषार्थ (मीनिंग ऑफ लाइफ) बन जाती हैं तो वे व्यक्ति को आगे विक्षुब्ध नहीं करतीं। अर्थ और काम की इच्छाओं और उनसे पैदा होने वाले प्रभावों, फलों से व्यक्ति मुक्त हो जाता हैं। उनकी निःसारता को जानकर व्यक्ति दूसरे कोटि की इच्छाओं अर्थात् धर्म या दूसरे के प्रति कर्तव्य और उत्तरदायित्व को जीने के लिये अग्रसर होता है। इन्हें वह वानप्रस्थाश्रम के पच्चीस वर्षों तक जीता है और उन्हें सिद्ध करता है।

इस आश्रम में वानप्रस्थी परोपकार करना, दान देना और उन सभी परिवार, समाज के उत्थान सम्बंधी धर्मों का सम्पादन करता है जो दूसरों की भलाई के लिये आवश्यक हो। संक्षेप में, धर्म–कार्य सम्बन्धी इच्छाओं का अभ्यास करता है; जीवन के अर्थ के रूप में प्रसिद्धि और कीर्ति की प्राप्ति करता है। धर्म सम्बन्धी इच्छाओं के सिद्ध होने पर सन्या सेक्षा की संतुष्टि हेतु सन्यास आश्रम की ओर प्रयाण करता है और सभी कोटि यहाँ तक की मोक्ष की इच्छा से भी मुक्त होने का प्रयास करता है। सभी इच्छाओं की सिद्धि से व्यक्ति उनसे और उनसे उत्पन्न होने वाले प्रभावों से मुक्त हो जाता है जिसे हम मुक्ति कहते हैं।

संक्षेप में, व्यक्ति इच्छाओं से प्रेरित कर्तव्यों के निष्पादन द्वारा अपनी इच्छाओं का दूसरों की भलाई रूपी मूल्यों द्वारा विनिमय करता है। इच्छाओं से प्रेरित कर्तव्यों के पालन द्वारा व्यक्ति किन मूल्यों से इच्छा का विनिमय करता है? यदि कर्ता कर्तव्य पालन द्वारा सहज,प्रसन्न और संतुष्ट महसूस

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

करता है और जिनके प्रति वह कर्तव्य करता है यदि वह स्वस्थ भाव–भंगिमा, सम्मानित, चिन्ता–रहित, भय रहित प्रतीत कराता हो तो किसी न किसी मानवीय मूल्य जिसे वह अपने आचरण से उत्पन्न करता है, से व्यक्ति अपनी इच्छाओं का विनिमय करता है। इस तरह पुरुषार्थ विचार विशुद्ध रूप से एक दर्शन पर आधारित है जिसे हम नैतिकता कहते हैं। इसके अनुसार मानवीय इच्छा और उससे प्रेरित कर्तव्य व्यक्ति तथा समाज के कल्याण के लिये होते हैं।

बहुत से विद्वान् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार प्रकार के जीवन के अर्थों की कोटियों को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास इन चार आश्रमों के एक–एक के क्रम में विचार करते हैं। उनका मानना है कि धर्म पुरुषार्थ को ब्रह्मचर्याश्रम में, अर्थ और काम को गृहस्थाश्रम में और धर्मार्थ इच्छाओं से मुक्ति का अभ्यास वानप्रस्थाश्रम में होता है, अर्थात् धर्म का सम्बन्ध ब्रह्मचर्य से जोड़ते हैं और सन्यास को अनावश्यक आश्रम मानते हैं। परन्तु ऐसा सोचना उचित नहीं है क्योंकि ब्रह्मचर्य सीखने की अवस्था है न कि इच्छाओं को भोगने की। विद्यार्थी एक ब्रह्मचारी होता है। वह विवेक सीखता है तथा विभिन्न कौशलों को अर्जित करता है। उसकी सारी इच्छाएँ विद्या और कौशल सीखने की होती हैं और इस तरह गार्हस्थ्य जीवन में प्रवेश करने की योग्यता प्राप्त करता है। गार्हस्थ्य जीवन में वह धन अर्जित करता है और पारिवारिक जीवन की इच्छा का भोग करता है। धर्म को सीखना और धर्म का जीवन में अभ्यास करना दोनों एक नहीं है। अर्थ और काम की इच्छाओं की सिद्धि हो जाने के अनन्तर ही धर्म की इच्छाओं के अभ्यास की तरफ उन्मुख हुआ जा सकता है। अर्थ और काम इच्छाओं के प्रति अनासक्तता का अभ्यास, परोपकार, दयालुता, उदारता और जरूरतमन्द लोगों को दान देना ये सब धर्म एक वानप्रस्थी के कर्तव्य हैं, न कि विद्यार्थी के। एक ब्रह्मचारी की सभी इच्छाएँ बुद्धि, विवेक और कौशल को सीखने की होती हैं। एक ब्रह्मचारी धनार्जन नहीं करता और न ही उसके लिये ऐन्द्रिक सुखों के भोग की स्वीकृति है। व्यक्ति अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष के क्रम में इच्छाओं का परिष्कार करता है। अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष की इच्छाओं के संसाधन का दर्शन विभिन्न आश्रमों में क्रमशः उत्तरोतर जीने के लिये, उन्हें साधित करने के लिए प्रबन्धित करता है ताकि अभ्यासी व्यक्ति को उसकी रूचियों, वासनाओं और इच्छाओं से मुक्ति मिल सके।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

24. दर्शन : गृह–कलह की एक चिकित्सा :–

दैनिक जीवन में दर्शन के उपयोग के बारे में लोग बार–बार प्रश्न करते हैं। क्या आपने कभी सोचा है कि गृह–कलह क्यों होते हैं और गृह–कलह को दूर करने में दर्शन किस तरह से सहायक हो सकता है? प्रायः यह देखा जाता है कि परिवार के सदस्यों के बीच स्पष्ट समझ का अभाव गृह–कलह का कारण होता है। गृह–कलह में पति–पत्नी के बीच और पिता, माता एवं बच्चों के बीच में झगड़े होते रहते हैं। प्रश्न है कि पति और पत्नी के बीच विवाद क्यों होता है? पति यह सोचता है कि वह पुरुष है और पत्नी तथा बच्चों पर प्रभुत्व जमाने का विशेषाधिकार रखता है, क्योंकि उन सभी का मूल्य उसके अधीन हैं; अनेकों प्रकार से वे अपनी आवश्यकताओं के लिये उस पर निर्भर रहते हैं। ऐसी ही सोच पत्नियों की भी होती है। वे यह भी सोच सकती हैं कि पुरुष की अपेक्षा वह ज्यादा सशक्त और आर्थिक एवं राजनैतिक रूप से स्वतन्त्र है। दोनों के सशक्त होने पर भी यह निश्चितता नहीं होती कि कोई गृह–कलह नहीं होगा या कम होगा। राजनैतिक अथवा आर्थिक शक्ति से परिवार नहीं चलता बल्कि सदस्यों के बीच पारस्परिक समझ और साझेदारी से चलता है। हमारा दृष्टिकोण है कि अच्छे पारिवारिक जीवन के लिये किसी सदस्य द्वारा परिवार के सदस्यों के साथ राजनैतिक खेल नहीं होना चाहिये। कोई भी एक परिवार का सदस्य तब होता है जब परिवार के सदस्य होने की न्यूनतम आवश्यकताओं का अनुपालन करता हों। यदि परिवार में किसी सदस्य की सोच और सम्मान की अनदेखी की जाती है तो शक्तियों का टकराव होता है। उनके 'अहं' का टकराव होता है। परिवार में समरसता, सहयोग और परिवार की उन्नति के स्थान पर संशय और भ्रम घर कर लेता है। पुरुष और इसी तरह स्त्री के विशेषाधिकार का आधार अहंकार है, अज्ञान है। इसी तरह पत्नी भी स्वयं को श्रेष्ठ सोच सकती है, वह किसी पुरुष की पराधीनता स्वीकार करने के लिये नहीं बनी है। दोनों के बीच जो भेद है उस भेद के स्पष्ट न होने के कारण उनमें मतभेद उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। दिन–प्रतिदिन दोनों के बीच दूरियाँ बढ़ने लगती हैं, जिसका परिणाम होता है एक सांस्कृतिक दूरी, एक गृह–कलह और जिसकी परिणति सम्बन्ध–विच्छेद, आत्महत्या और हत्या में होती हैं। यदि उन दोनों में से कोई एक–दूसरे को पारस्परिक समस्या के सम्बन्ध में बातचीत करने के लिये मेज पर आमन्त्रित करे या दोनों मिल बैठ कर समस्या को विश्लेषित करने और इस बात को जानने का प्रयास करे कि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

समस्या वास्तविक है या आरोपित, तो हम आश्वस्थ हैं कि वास्तविकता/सच्चाई पर कोई समस्या नहीं हो सकती है। यदि यह आरोपित है तो उसको दूर करने के लिये दर्शनशास्त्र उपायभूत होता है। वे समस्या के प्रत्येक बिन्दु पर सहमति बना सकते हैं और किसी बिन्दु पर यदि सहमति नहीं बनती है तो तत्क्षण उस बिन्दु पर असहमत होने के लिये सहमति बना सकते हैं; तब गृह–कलह गृह–खुशी में बदल सकता है। दोनों बौद्धिक प्राणी हैं तथा दोनों परिवार के समान अवसर सम्पन्न सदस्य हैं और लिंग, आर्थिक तथा राजनैतिक भेद के आधार पर एक–दूसरे पर हावी होना परिवार चलाने के मूल्य नहीं है। यह मूल्य तो दोनों लिंगों के बीच प्रेम, समानता, सहमति और सहयोग पर आधारित परस्पर विश्वास का नैसर्गिक बन्धन है। इस तरह इस बात पर दोनों सहमत होंगे और तब न तो कोई विवाह विच्छेद ही होगा और न कोई गृह–कलह। इसी तरह बड़ों को छोटों के तथा छोटों को बड़ों के अहं का भी सम्मान करना गृह–कलह के स्थान पर गृह–कल्याण का मार्ग प्रशस्त करता है। दार्शनिक प्रक्रिया से ही दोनों के बीच समस्या का समाधान हो जायेगा न कि मतदान (वोटिंग) से।

25. दर्शन दार्शनिक समस्याओं के समाधन का उपाय है :–

बौद्धिक प्राणी होने के नाते मनुष्य किसी न किसी समस्या से टकराता रहता है। समस्या समस्या के लिये नहीं होती है तथा समस्या बाहर नहीं होती। सभी समस्याएँ अनुचिन्तनात्मक बुद्धि की समस्याएँ होती हैं, चाहें उन समस्याओं का सम्बन्ध परिवार से हो, समाज से हो या किसी अन्य से हो। दार्शनिक बुद्धि समस्याओं के वास्तविकता को जानती हैं। जिनको बौद्धिक भूख लगती है वे व्यक्ति केवल समस्याओं से टकराते ही नहीं हैं बल्कि उस टकराहट से उसकी बुद्धि स्व–चेतन अथवा अनुचिन्तनात्मक होती है। वे समस्या पर अनुचिन्तन करते हैं, उसका विश्लेषण करते हैं, सहमति एवं असहमति बनाते हैं, एक निर्णय लेते हैं और उस समस्या का समाधान देते हैं। अगर बुद्धि में समस्या साफ हो गयी तो हम विश्लेषण, अनुचिन्तनात्मक अथवा उनका सामान्यीकरण या बौद्धिकरण क्रियाओं द्वारा समस्या को स्थिर कर उनका समाधान करते हैं। इसके बाद भी यदि समस्या बनी रहे तो विश्लेषित खण्डों पर एक–एक करके सहमति बनाते हैं। कुछ ऐसे भी समस्या के अंश हो सकते हैं जहाँ सहमति सम्भव नहीं है तो हम वहाँ भी सहमति बनाने के लिये इसी प्रक्रिया को अपनाते हैं और कुछ बिन्दुओं पर जिन पर किसी वजह से सहमति सम्भव नहीं हो पाती उस बिन्दु

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पर हम असहमत होने के लिये सहमति बनाते हैं और इससे समस्या का समाधान हो जाता है। अगर समस्या साफ हो गयी, फिर भी भविष्य में उसके बने रहने की संभावना हो सकती है; पर यदि समस्या के बारे में बुद्धि साफ हो गयी तो वह हमें बिक्षुब्ध नहीं करती। समस्या कोई हो दार्शनिक अनुचिन्तन से उसे दूर किया जा सकता है।

26. दर्शन आक्रामकता और आतंकवाद के खिलाफ उपचार है :–

चूँकि दर्शन, ज्ञान की स्पष्टता से ही नहीं बल्कि संस्कार और संवर्धन से भी सम्बन्धित है इसलिये दर्शन की एक जीवन्त शाखा के रूप में हम नैतिक दर्शन की बात करते हैं। यह आक्रमकता और आतंकवाद के विरुद्ध उपाय के रूप में काम कर सकता है। भारतीय दर्शन में ऋषि–ऋण एक जन्मजात प्रत्यय है। जिससे हम जो सीखते हैं उसे दूसरों के कल्याण के लिये देकर चुकता कर सकते हैं। इसे एक उदाहरण से हम स्पष्ट करते हैं– मान लीजिए दो छात्र है जो आणविक बम, प्रक्षेपास्त्र (मिसाइल्स), उपग्रह और उनके प्रयोग की तकनीक सीख लेते हैं। उसमें से एक सोच सकता है कि हमने बहुत बड़ा ज्ञान सीख लिया है और इसलिये सिखाने वाले आचार्यों, देश और समाज के कल्याण के लिये इसका उपयोग हमारा कर्त्तव्य है। दूसरी तरफ दूसरा ये सोच सकता है कि इस बड़े ज्ञान को प्राप्त कर मुझमें इतनी शक्ति हो गयी है कि मैं उन सबको नष्ट कर दूँगा जिनके अपने सिद्धान्त और पद्धति है अथवा उनको जो हमारे जीवन पद्धति और विचार को न तो मानते हैं और न ही भेड़ों की भाँति सम्मान करते हैं उनको जीने का कोई अधिकार नहीं है। इस तरह की विचारधारा उग्रवाद को जन्म देती है। किन्तु यदि वह अपने परिवेश जिसमें वह पैदा हुआ है, शिक्षित हुआ है, उसके प्रति ऋणी है तो वह परिवेश से प्राप्त ज्ञान के ऋण को चुकाने की दिशा में अपने कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों का पालन करेगा। दूसरे विचारधारा में आक्रमकता और उग्रवाद एक विशेष तरह का अज्ञान है। किसी के अनुभव को जीवन का एक मात्र मार्ग समझना अन्धविश्वास है जिसे हम अपने अन्तरतम में परम के रूप में आरोपित कर लेते हैं और अपने खुद के अनुभव की, मनुष्य होने के नाते अपने अनुभव की, अपने कर्त्तव्य और उत्तरदायित्वों की परवाह नहीं करते हैं। दार्शनिक चिन्तन विवेक–ज्ञान प्राप्ति का अनुशासन है। किसी विशेष विचारधारा की वासना से बुद्धि को मुक्त रखने और कट्टर रुचियों और वासनाओं से मुक्त अपने अनुभव के अनुप्रयोग में दर्शन ही मात्र चिकित्सा है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

27. निष्कर्ष :–

सभी बोधमूलक क्रियाएँ और इसी तरह दार्शनिक चिन्तन केवल भाषा में ही सम्भव हैं। दार्शनिक चिन्तन के लिये भाषा ठीक उसी तरह नहीं है जिस तरह मछली के लिये जल, बल्कि उस तरह है जिस तरह मछली के लिये उसका गलफड़ा। ज्ञान भाषा अनुबिद्ध होता है। भाषा उसे निर्धारित करती है और समझ तथा संवाद के लिये व्यक्त करती है। बुद्धि जिन समस्याओं से टकराती है उनसे सन्तुष्टि की भूख की शांति के लिये दार्शनिक अनुचिन्तन की आवश्यकता होती है। सभी समस्याएँ वैचारिक होती हैं जिनसे बुद्धि रूबरू होती है। यही कारण है कि किसी भी तन्त्र से सम्बन्धित समस्याओं का विश्लेषण किया जाता है, स्पष्टीकरण किया जाता है तथा दार्शनिक अनुचिन्तन के द्वारा उसका समाधान किया जाता है।

'दर्शन का कोई दर्शन नहीं होता है' क्योंकि दर्शनों और दूसरे तन्त्रों से सम्बन्धित समस्याओं पर जो हम अनुचिन्तन करते हैं वह भी दर्शन ही होता है। दार्शनिक अनुचिन्तन की आवश्यकता होती है क्योंकि जो ज्ञान प्रकाशित होता है वही 'करने, न करने, अन्यथा करने सम्बन्धी हमारे कर्त्तव्यों' की प्रेरणा का कारण होता है। अगर प्रकाशित ज्ञान को व्यक्ति के भिन्न–भिन्न अभिप्रायों, रुचियों और इच्छाओं पर आरोपित किया जाये तो कर्त्तव्य का उचित प्रेरक कारण अनुरागयुक्त होगा और ज्ञान का भटकाव होगा। ये कुछ कारण हैं कि वैज्ञानिक सिद्धान्तों का कोई भी ऐसा दावा कि "ज्ञान वैज्ञानिक ज्ञान तक सीमित होता है क्योंकि इसकी इन्द्रियानुभव द्वारा परीक्षा की जा सकती है और वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा सिद्ध किया जा सकता है और इसीलिये ज्ञान के अध्ययन के लिये दर्शनशास्त्र की कोई आवश्यकता नहीं है" – एक आधारहीन, अराजक और भ्रामक विचार है और इसीलिये अस्वीकार्य भी है।

जो दार्शनिक भाषा को लाक्षणिक मानकर चलते हैं उनसे भिन्न प्रो. रमन के विचार से हम सहमत हैं कि "दर्शन के लिये भाषा रूपकों का चोंगा नहीं है। स्वयं लक्षणा भी भाषा की संरचना में अन्तर्निहित होती है" और इस तरह भाषा–दर्शन और विश्लेषण का सीधा सम्बन्ध चेतना के प्रकाश के रूप में भाषा से है जो अभिन्न रूप से अपने अर्थ को प्रकाशित करती है।[13]

निष्कर्षतः विश्लेषण, समालोचना और संदेहानुसंधान विधि से समस्याएँ स्पष्ट हो जाती हैं और यह स्पष्टता सम्प्रत्यय की विवेकपूर्ण समझ के लिये तथा समस्या को दूर करने के लिये दार्शनिक अनुचिन्तन को प्रेरित

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

करती है। दर्शन बुद्धि–प्रकाशित समस्यायों पर अनुचिंतानात्मक क्रिया है– इसका प्रयोजन समस्यायों के प्रति विवेक प्राप्ति है। अनुचिन्तनात्मक क्रिया ज्ञान को भाषा से पृथक् नहीं देखती और सत् जिस पर अनुचिन्तन किया जाता है वह भी भाषा उसे जिस रूप में प्रस्तुत करती है उससे भिन्न नहीं होता है। बुद्धि–प्रकाशित समस्याएँ ही दार्शनिक अनुचिन्तन के विषय होते हैं। चूँकि दार्शनिक अनुचिन्तन का लक्ष्य समस्याओं का विश्लेषण, व्याख्या, सम्प्रत्ययात्मक सुस्पष्टता और अन्ततो विवेक प्राप्ति होती है।[14] इसीलिये दर्शन के भविष्य के समक्ष कोई संकट है इस तरह के प्रश्न का कोई मूल्य नहीं है। यही कारण है कि समस्याओं से टकराने, उन पर अनुचिन्तन कर उन्हें दूर करने की बौद्धिक ईमानदारी और मानवीय अपेक्षाओं की स्पष्ट समझ की दर्शनशास्त्र परितुष्टि करता है।

सेवानिवृत आचार्य
दर्शन एवं धर्म विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी –

1. *बृहदारण्यक उपनिषद 4/3/23.*
2. *एयर, ए.जे., लैंग्वेज, ट्रुथ एण्ड लॉजिक, अध्याय 1, पेंगुइन बुक, 1982.*
3. *सुसान हॉक, रिसेंट ऑबिचुअरीज टू एपिस्टेमॅलॉजी,अमेरिकन फिलॉसफिकल क्वाटर्ली, वॉल्यूम 27, नम्बर 3,जुलाई, 1990.*
4. *तत्त्वमीमांसीय और ज्ञानमीमांसीय तत्त्वों की सिद्धि के लियेदियेगये प्रमाणों और तर्कों के विरुद्ध नागार्जुन माध्यमिक कारिका में, धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक में, जयराशि तत्त्वोपप्लवसिंह में और श्रीहर्ष खण्डनखण्डखाद्य में द्वन्द्वात्मक तर्कणा किये है। इन लोगों ने रूढ़िवादी तरीके से दियेगये तर्कों का खण्डन यह सिद्ध करते हुये किया है कि वे दृढ़ नहीं हैय वे अपने अभिप्रायों को सिद्ध करने में असफल हैं।*
5. *बौद्धों की प्रमाण–व्यवस्था सिद्धान्त के अनुसार किसी वस्तु को एक से अधिक ज्ञान के साधनों (प्रमाणों) के द्वारा नहीं जान सकते। प्रत्यक्ष का विषय अनुमान का विषय नहीं होता और इसी तरह अनुमान ज्ञान का विषय अनुमान प्रमाण का विषय होता है न कि प्रत्यक्ष प्रमाण का। स्वलक्षण प्रत्यक्ष का विषय होता है और विकल्प (सामान्यलक्षण) अनुमान का, जो कि नामजात्यादियोजना का ज्ञान है। संवृत्ति (विकल्प) की व्यवस्था के अनुसार आग की अनुमिति हमारे आग के प्रत्यक्ष ज्ञान में नहीं होती।*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

6. द नेचर ऑफ फिलॉसफी, दयाकृष्ण, पृ. सं. 215, 226, प्राची प्रकाशन, कोलकाता, 1955.
7. "ज्ञानेव धर्मः इति" महाभाष्य ऑफ पतंजलि, पस्पशाह्निक 1, "शास्त्रपूर्वके प्रयोगे अभ्युदयस्यतदूदयस्ततुल्यम् वेद शब्देन", अष्टाध्यायी इस वार्तिक की अंग्रेजी व्याख्या पर एस. एन. दासगुप्त, सम्पादक– शिबजीवन भट्टाचार्य, आई.सी.पी.आर., नई दिल्ली, 1991.
8. विद्याभेदात प्रतायन्ते ज्ञानसंस्कारहेतवः, वाक्यपदीय, प्रथम संस्करण, सम्पादक और अंग्रेजी अनुवादक के. राघवन पिल्लई, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, 1971.
9. "ज्ञानं हि तस्य शरणम्" महाभाष्य ऑफ पतंजलि, पस्पशाह्निक 1, "शास्त्रपूर्वक प्रयोगे अभ्युदयस्यतदूदयस्ततुल्यम् वेद शब्देन", अष्टाध्यायी इस वार्तिक की अंग्रेजी व्याख्या पर एस. एन. दासगुप्त, सम्पादक– शिबजीवन भट्टाचार्य, आई.सी.पी.आर.,नई दिल्ली, 1991.
10. द नेचर ऑफ फिलॉसफी, दयाकृष्ण, पृ. सं. 233,प्राची प्रकाशन, कोलकाता, 1955.
11. यहाँ आध्यात्मिकता का तात्पर्यहमारी वासनाओं से रागानुरक्त, किसी वस्तु या किसी सिद्धान्त की कैदी बुद्धि की चिकित्सा पद्धति से है। इस सन्दर्थ में इसका अर्थ 'दर्शन' से है जो निरपेक्ष तथा सब प्रकार के वैचारिक कैद से मुक्त ज्ञानके लिये अधिकृत है।
12. कायवांग्बुद्धिविषया ये मलाः समवस्थिताः। चिकित्सालक्षणाध्यात्मशास्त्रैस्तेषां विशुद्धयः।। –वाक्यपदीय, 1–147. –सम्पादन के साथ अंग्रेजी अनुवाद, के. राघवन पिल्लई, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, 1971.
13. प्रॉब्लम ऑफ इंटरप्रटेशन एण्ड ट्रांसलेशन, अध्याय 4, द रोल ऑफ मेटाफर, एन.एस. एस. रमन, इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ एडवांस्ड स्टडीज, शिमला, 2011.
14. प्रज्ञाविवेकं लभते भिन्नैरागमदर्शनैः। कियद्वा शक्यमुन्नेतुं स्वतर्कमनुधावता।। वाक्यपदीय 2/484. इस श्लोक के अनुसार विचारों के विभिन्न तन्त्रों और परम्पराओं के परीक्षण से गुजरने पर प्रज्ञा अथवा विचार विवेक को प्राप्त करता है। अपनी वासना का ही अनुकरण करने वाले व्यक्ति के विचार किसी दार्शनिक उत्कर्ष को प्राप्त नहीं करा सकता। –सम्पादन के साथ अंग्रेजी अनुवाद के. राघवन पिल्लई, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, 1971.

* दार्शनिक चिन्तन का स्वरूप, विषय और उपयोगिता के सम्बन्ध में मेरे विचारों के आकार और अन्तर्वस्तु को व्यवस्थित करने में श्री दिग्वजय मिश्र, शोध छात्र, दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने जो उपष्टम्भक की भूमिका निभाई है, उसके लिए बहुत–बहुत साधुवाद।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पुस्तक-समीक्षा

हिंसा पर एक दार्शनिक बहस : हन्ना आरेंट और भारतीय परम्परा के संदर्भों में*

पंकज श्रीवास्तव

आधुनिक सभ्यता में हिंसा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से इस हद तक व्याप्त है कि इससे ना केवल मानव का आस्तित्व संकट में आ गया है, अपितु सम्पूर्ण पृथ्वी ही अपने विनाश की ओर तेजी से अग्रसर है। शीत युद्ध के बाद उदारवादी पूँजीव्यवस्था में विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र हुई प्रगति के साथ सभी ताकतवर देश जहाँ एक तरफ विध्वंसक हथियारों को जुटाने की होड़ में लग गए, वहीं दूसरी तरफ भूमंडलीयकरण के इस दौर में प्राकृतिक संसाधनों के दोहन के लिए अन्य अविकसित और कमजोर देशों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर रहें हैं और अपने उत्पादों के लिए नए बाजारों को तलाश रहे हैं। वर्तमान परिदृश्य में पूँजीवादी व्यवस्था ने सूचना और प्रौद्योगिकी का पूरा इस्तेमाल कर मनुष्य को बाजार में खड़ा कर दिया है, और इससे एक नयी उपभोगवादी संस्कृति का विस्तार हो रहा है, और परिणाम स्वरूप मनुष्य वस्तुओं पर पूरी तरह निर्भर होकर एकांगी हो गया है। वह उन सभी मानवीय गुणों– करूणा, प्रेम, उदारता, बंधुत्व, सहिष्णुता आदि को पीछे छोड़ता जा रहा है जिसके कारण वह दूसरों और प्रकृति के साथ सामंजस्य स्थापित कर सहभागिता करता रहा है। परिणामतः, इन सारी परिस्थितियों ने औद्योगीकरण, मशीनीकरण, शहरीकरण के साथ ही आतंकवाद, उग्रवाद, धार्मिक कट्टरता और जातीय वैमनस्य एवं नृजातीय संघर्षों को बढ़ाकर हिंसा के ग्राफ को निरंतर बढ़ाया है।

***हन्ना आरेंट : हिंसा का उत्खनन, अम्बिकादत्त शर्मा एवं विश्वनाथ मिश्र, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, 2021**

उन्मीलन – वर्ष 35, अंक 2, जुलाई–दिसम्बर 2021
ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस भयावह स्थिति को देखते हुए आज हिंसा के स्वरूप, आयामों और घटकों पर एक समग्र दार्शनिक मीमांसा नीतांत आवश्यक है। इसी दिशा में, हन्ना आरेंट के राजनीतिक दर्शन को आधार बनाकर, अम्बिका दत्त शर्मा और विश्वनाथ मिश्र द्वारा लिखित पुस्तक 'हन्ना आरेंट : हिंसा का उत्खनन' एक दार्शनिक विमर्श प्रस्तुत करने का मौलिक प्रयास है। पुस्तक मुख्यतः हिंसा की अवधारणा को मानव स्वभाव, मानवीय परिस्थितियों, राजनीति और शक्ति की अवधारणाओं के परिप्रेक्ष्य में, हन्ना आरेंट के विचारों का विश्लेषण कर ग्रीक, अब्राह्मिक और ब्राह्मिक परम्परा के विभिन्न संदर्भों से समझने का प्रयास करती है। ब्राह्मिक परम्परा से लेखकों का आशय भारत में हिंदू, बौद्ध, जैन और सिख धर्म की परंपराओं से है, जब कि अब्राह्मिक परम्परा का सम्बंध यहूदी, ईसाई और इस्लाम धर्म की परम्परा से है। लेखकों ने ब्राह्मिक परम्परा की जो यह नयी कोटी (कैटेगरी) बनायी है उसका उसका क्या औचित्य है? क्या कोई ऐसी दार्शनिक संस्थापना या अवधारणा है जिसके आधार पर हम इन धर्मों को एक कोटि में रख सकते हैं। इस पर पुस्तक में इसकी कोई चर्चा नहीं की गयी है, जिसकी कमी थोड़ा खलती है। हालाँकि प्राचीन काल से ही भारतीय ज्ञान परम्परा में दो दार्शनिक संस्कृतियों वैदिक और श्रमण का संदर्भ मिलता है।[1] इनके निरंतर आपसी विचार विनिमय और संवाद ने भारतीय दर्शन की वाद परम्परा को विश्व पटल पर एक विशेष पहचान दी है।

मेरी समझ में यह पुस्तक एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न की ओर संकेत कर रही है – क्या भारत की समकालीन परिस्थितियों में उत्तर आधुनिकता से उपजे विभिन्न विमर्श जैसे नारी विमर्श, दलित विमर्श, जनजाति विमर्श आदि मनुष्य में चेतना जागृत कर, आधुनिकता के संताप से उन्हें मुक्त कर पाएँगे?या फिर ये सारे विमर्श मानव समाज को विभिन्न आत्म केंद्रित समूहों में विभाजित करते चले जाएँगे? पुस्तक के लेखकों का स्पष्ट विचार है कि उत्तर आधुनिकता से इतर पुरातन परम्पराओं (ग्रीक और भारतीय) में ऐसी विचार दृष्टि (सोच) या सभ्यता दर्शन उपलब्ध है जिसका पुनःपाठ कर एक दार्शनिक विमर्श खड़ा किया जा सकता है और व्यावहारिक स्तर पर समाज में मानवीय और राजनीतिक मूल्यों की स्थापना की जा सकती है। इस संदर्भ में महात्मा गाँधी प्रासंगिक हो जाते हैं, जिन्होंने राजनीति को धार्मिकता (आध्यात्मिकता) से जोड़ कर अपने सत्य के प्रयोगों से व्यावहारिक रूप में भारत की स्वतंत्रता के लिए एक अहिंसक क्रांति की और भारत में स्वराज की स्थापना हेतु हिंद स्वराज के रूप में एक रोड मैप तैयार किया था।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस समीक्षा निबंध के तीन मुख्य प्रयोजन हैं – पहला, मानव स्वभाव, उसकी परिस्थितियाँ व उसके उद्विकास, व्यक्ति और समाज, मनुष्य और प्रकृति, शक्ति एवं सामूहिकता आदि के सम्बंध में पुस्तक में उपलब्ध संस्थापनाओं, विचारों और युक्तियों का ऐतिहासिक और सांस्कृतिक संदर्भों में दार्शनिक विश्लेषण करना।

दूसरा, इस पुस्तक के उन मापदंडों, प्रसंगों और युक्तियों की समालोचना कर, पुस्तक के लेखकों के साथ एक वैचारिक संवाद करना है, जहाँ पर हन्ना आरेंट के राजनीतिक दर्शन को ब्राह्मिक परम्परा के धरातल से देखने का प्रयास किया गया है।

तीसरा, वर्तमान परिदृश्य में आधुनिकता, पूँजीवाद और राष्ट्रवाद के समीकरण से उत्पन्न परिस्थितियों को किस प्रकार समझा जा सकता है और इन परिस्थितियों से उबरने की क्या संभावनायें नजर आती हैं?

मानव स्वभाव का मूल : हिंसा अथवा सामूहिकता

पुस्तक की शुरुआत हिंसा, मानव स्वभाव, और मानव परिस्थितियों पर विचार करते हुए पश्चिम के प्रभावी आधुनिक विचारकों डार्विन, हॉब्स, रूसो, हेगल, मार्क्स आदि की संस्थापनओं और सिद्धांतों की आलोचना के साथ होती है। इन सभी विचारकों ने भौतिकता को ही केंद्र में रख कर मानव स्वभाव और परिस्थितियों को समझने का प्रयास किया है। परिणामतः एक व्यक्ति (सेल्फ) और अन्य (अदर) के सम्बंध की व्याख्या भौतिक आवश्यकताओं के आधार पर ही की गयी और व्यक्ति को स्वार्थी, स्वच्छंद, दायित्वहीन और एकांगी समझा गया।

डार्विन (1998) ने मानव के उद्विकास की व्याख्या 'प्राकृतिक प्रवरण' के सिद्धांत से की, जो मनुष्य के प्रकृति के साथ हुए संघर्ष को दिखाता है। डार्विन का मानना था कि चूँकि मनुष्य का उद्विकास पशुओं से हुआ है तो मनुष्य के मूल स्वभाव में पशुओं से मिली हुई हिंसा की वृति है, जिसकी अभिव्यक्ति समाज में मनुष्य के आपसी संबंधों में होती है। पुस्तक के लेखक यहीं पर मानव स्वभाव की प्रकृति पर मूल प्रश्न खड़ा कर रहें हैं। क्या मनुष्य को पशुओं की हिंसक वृति, जैविक आवश्यकताओं, असुरक्षा की भावना के आधार पर समझा जा सकता है या फिर उसे नैतिक और राजनीतिक मूल्यों के आधार पर समझना होगा? हालाँकि 'नृतत्वशास्त्रीय और तकनीकी विश्व दृष्टि मनुष्य को पशु जगत से जोड़कर ही देखती है। परंतु पशु का मनुष्य हो जाना कोई सामान्य घटना नहीं है बल्कि विश्व इतिहास और चेतना के विकास में घटित एक नया परिच्छेद है। (दत्त एवं

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शर्मा 2021:12) वस्तुतः मनुष्य का आत्मचेतन होना एक अनोखी घटना है, जिसकी कल्पना के बिना मानव समाज के नहीं की जा सकती है। इसीलिए हन्ना आरेंट कह रही हैं – 'हर मनुष्य अपने में एक नयी शुरुआत है क्योंकि मनुष्य के साथ ही स्वतंत्रता का जन्म होता है'। (आरेंट 1998:178) पुस्तक के लेखकों का मत है कि अपने होने के प्रति जागरूक होना और यह उद्घोष करना कि 'मैं हूँ' को मात्र भौतिकता की संकल्पना में नहीं समझा जा सकता है। पर इस संदर्भ में मेरी समझ (पुस्तक के) लेखकों से थोड़ी अलग है, क्योंकि अगर जीव विज्ञान (भौतिकता) के नजरिए से भी मनुष्य के उद्विकास को देखा जाए तो भी मनुष्य का होना एक नयी जैविक घटना है, क्योंकि मनुष्य का मस्तिष्क जैव विकास की प्रक्रिया में अपने पूर्वजों (ऐप) के मुक़ाबले में तीन गुना तक बढ़ गया था, जिसके कारण ही उसमें अवधारणा बनाने की भाषाई क्षमता विकसित हो गयी। इस तथ्य को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी देखने की आवश्यकता है, जिसे निश्चित ही डार्विन अनदेखा कर देते हैं। डार्विन अपने सिद्धांत में भाव (इमोशन) की अपेक्षा इंस्टिंक्ट (वृति) पर जोर देते हैं, और स्वीकारते हैं कि, पशुओं से कमतर ही सही, लेकिन मनुष्य का व्यवहार मूलतः इंस्टिंक्ट से ही निर्धारित होता है। लेकिन भाव (क्रोध, भय, प्रेम आदि) का सम्बंध एक ओर जैविक प्रक्रिया (भौतिकता) से तो दूसरी ओर काफी हद तक समाजिकता से भी होता है।

इस संदर्भ में मनोविश्लेषक एरिक फ्रॉम[2] का विचार महत्त्वपूर्ण है। उनका कहना है कि 'मानवीय व्यवहार अगर यौन इच्छा और संकट की परिस्थितियों को छोड़ दें तो अधिकतर स्थितियों में उसे जैविक इंस्टिंक्ट से निर्णय लेने का कोई निर्देश या सहायता नहीं मिलती है।'[3] तो फिर क्या इस कमी की पूर्ति मस्तिष्क क़े विकास के साथ ही तर्कबुद्धि (रीजन) से होती है? एरिक फ्रॉम का मानना है कि कुछ हद तक अवश्य ही तर्कबुद्धि (रीजन) निर्णय लेने में मनुष्य की सहायता करती है। परंतु बुद्धि एक उपकरण के तौर पर काफी कमजोर और अविश्वसनीय सिद्ध होती है। क्योंकि यह आसानी से इच्छाओं और वासना से प्रभावित और संचालित होने लगती है। अनुभववादी ह्यूम भी मानते हैं कि बुद्धि वासना की गुलामी करती है, और 'कार्य को करने के लिए जिस इच्छा शक्ति (विल) की जरूरत है वह बुद्धि से नहीं मिलती है'।[4] पर मनुष्य की स्वचेतनता उसे अवश्य ही यह अनुभूति कराती है कि वह विषयों को केवल जान ही नहीं रहा, बल्कि वह यह भी जान रहा है, कि वह, यह जान रहा है। यही विशेषता उसे पशु–जगत से अलग कर उसकी अक्षमताओं, सीमाओं, अज्ञान और मृत्यु का अहसास

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कराती है, जिससे उबरने का वह लगातार प्रयास करता है। अतः मानव स्वभाव को किसी मूल गुण जैसे प्रेम, घृणा, अच्छाई, बुराई, स्वार्थ, परार्थ से ना परिभाषित कर उसके आस्तिव के मूल विरोधाभासों में देखना चाहिये, जिसकी जड़ें उसकी खोई हुई जैविक इंस्टिंक्ट और अर्जित स्वचेतनता के विभेद में उलझी पड़ी हुयी हैं। वास्तव में, मनुष्य स्वचेतनता से उपजे 'स्व' और 'अन्य' (दूसरों व प्रकृति) के पृथकत्व को दूर करने के लिए ही अनेक प्रकार (सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक) के प्रयासों को इस संसार में करता है।

अतः हन्ना आरेंट जिस ग्रीक–बौद्धिकता और लेखक जिस ब्राह्मिक–आध्यात्मिकता को आधार बताकर मानव स्वभाव के मूल को समझ रहे हैं, उस पर मनुष्य की आस्तित्वात्मक परिस्थितियों और पीड़ाओं के संदर्भ से असहमति व्यक्त की जा सकती है। मानव स्वभाव में कोई मूल (एसेन्स) नहीं है बल्कि उसका निर्माण विभिन्न विरोधाभासों से होता है जिसमें बुद्धि और वासना, भौतिकता और अभौतिकता, ऐतिहासिकता और अऐतिहासिकता, चेतन और अवचेतन (अंकॉन्शस), व्यक्तिगत और राजनीतिक, पवित्र और अपवित्र और अंततः जीवन और मृत्यु शामिल हैं। मेरी समझ में एक व्यक्ति इन विरोधाभासों में सचेतन भागेदारी कर समाज में अपना आस्तित्व बनाने की सफल व असफल कोशिशें करता है।

पुस्तक के लेखकों का मानना है कि पश्चिम के इन आधुनिक विचारकों की मुख्य ख़ामियाँ थीं कि वे मानवीय आस्तित्व की सभी अभिव्यक्तियों (नैतिकता, राजनीति, समाजिकता, धार्मिकता आदि) को उनकी भौतिक दशाओं का वैज्ञानिक अध्यन कर समझने के कोशिश कर रहे थे। साथ ही उनका विश्वास था कि भौतिक और आर्थिक प्रगति और समृद्धि से ही मनुष्य की सभी समस्यायें दूर हो जायेंगी। इसी विचार दृष्टि ने विज्ञान और तकनीकी की सहायता से औधोगिक क्रांति के लिए मार्ग प्रशस्त किया। इससे मशीनीकरण, शहरीकरण और केंद्रीकरण के साथ आधुनिकता का उदय हुआ जिसमें व्यक्ति के अहम को प्रश्रय मिला और फलस्वरूप पूँजीवादी व्यवस्था का विस्तार हुआ, जिसमें प्रकृति का पूरी तरह शोषण किया जाने लगा। इन परिस्थितियों में कुछ पूँजीपतियों के हाथों में उत्पादन के साधन आ गए और उनके पास ही पूँजी का संग्रह होने लगा, जिससे विषमता बढ़ने लगी। उल्लेखनीय है कि मार्क्स की मंशा तो निश्चित ही समता के आधार पर साम्यवादी समाज बनाने की थी, जिसमें सभी को अपनी रचना–धर्मिता के लिए पर्याप्त अवसर हों; पर अंततोगत्वा वे साम्यवादी शासन व्यवस्था की स्थापना हेतु अपनी क्रांति की अवधारणा में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हिंसा को स्थान देकर बुर्जुआ वर्ग के स्थान पर सत्ता में सर्वहारा वर्ग को बैठना चाह रहे थे। इस स्थिति में पूँजीवादी व्यवस्था और साम्यवादी व्यवस्था से बीच कोई मूल भेद नहीं रह जाता है, क्योंकि दोनों ही व्यवस्थाएँ एक हिंसक राज्य को ही जन्म देती हैं।

सामूहिकता : बौद्धिकता और आध्यात्मिकता के संदर्भ

पुस्तक के लेखकों ने ग्रीक परम्परा की बौद्धिकता और ब्राह्मिक परम्परा की आध्यात्मिकता के संदर्भों से नैतिक मूल्यों के आधार पर मानव अस्तित्व को उसकी विभिन्न परिस्थितियों से सामूहिकता में समझने का प्रयास किया है। एक व्यक्ति का आत्मचेतस होना और उसकी भाषा में अभिव्यक्ति बिना सामूहिकता के सैद्धान्तिक स्तर पर सम्भव नहीं है। यहाँ विचारणीय है कि एक समाज में भाषा किस प्रकार एक व्यक्ति को गढ़ रही है, और अर्थों का संसार निर्मित हो रहा है, जिसमें वह विचरण कर अपने जीवन के नए अर्थ तलाश रहा है। क्या 'स्व' का सृजन बिना अन्य के सम्भव है? हन्ना आरेंट (1998 : 7) इसलिए ही कह रहीं हैं – ईश्वर ने मनुष्य को 'ही' नहीं 'दे' बनाया है, क्योंकि सामूहिकता के बिना केवल जैविक आधार पर मानव अस्तित्व की बात निरर्थक लगती है।

'स्व' और 'अन्य' के सम्बंध को समूहिकता में समझने की दृष्टि वैदिक परम्परा में भी देखी जा सकती है जो डार्विनवाद और मार्क्सवाद के संघर्ष के सिद्धांत के विरुद्ध सह–आस्तित्व के सिद्धांत का प्रतिपादन करती है। सह–आस्तिव के लिए आवश्यक है कि मनुष्य अपनी विवेकशीलता और स्वचेतनता से उस नैतिक और आध्यात्मिक चेतना को अर्जित करे जो सामूहिकता को अभिव्यक्त करती है।

ग्रीक दर्शन परम्परा में मनुष्य विवेकशील प्राणी है, और ज्ञान सार्वभौमिक है ना कि व्यक्तिगत और इस अर्थ में ज्ञान सामूहिकता की ही अभिव्यक्ति है। सुकरात का कथन 'ज्ञान ही सद्‌गुण है' महत्त्वपूर्ण है[5], क्योंकि व्यक्ति के 'स्व' की अभिव्यक्ति ज्ञान से ही उसके सद्‌गुणों में होती है। ब्राह्मिक परम्परा में व्यक्ति मूलतः स्वचेतन प्राणी है, जिसकी अभिव्यक्ति उसकी चेतना के विभिन्न स्तरों पर होती है। दोनों ही परम्परायें मनुष्य को मात्र भौतिक प्राणी ना मान कर सामाजिक और सृजनशील मान रहीं हैं। इस संदर्भ में लेखकों का विचार है कि 'ब्राह्मिक परम्परा में भी राजनीति का उतना ही व्यापक और ओजस्वी अर्थ लिया गया है जितना हन्ना आरेंट और ग्रीक परम्परा ने राजनीति को दिया है। सर्वे धर्माः राजधर्मे प्रविष्टाः कहते हुए ब्राह्मिक परम्परा में भी राजनीति को उतनी ही वरीयता दी गयी है जितनी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कि 'वीटा एक्टिवा'[6] कहते हुए ग्रीक परम्परा में प्राप्त है'। (दत्त और मिश्रा 2021: 29)

इस प्रसंग में मेरे समझ में दो बिंदुओं पर विचार करने की आवश्यकता है। पहला, राजनीति से लेखकों का क्या अभिप्राय है? अगर इसका अर्थ मनुष्य द्वारा समूह के हित के लिए साथ–साथ शुभ कार्य करने की मानवीय स्वभविकता है, जैसा कि हन्ना आरेंट मान रही हैं; तो फिर इसका आधार क्या ग्रीक दर्शन की बौद्धिकता होगी? यहाँ यह विचारणीय है कि क्या बौद्धिकता, सामूहिकता को व्यवहार में अभिव्यक्त करती है? अगर ऐसा है, तो किस आधार पर ग्रीक चिंतक अरस्तू ने दास प्रथा पर अपनी सहमति जतायी[7]? हालाँकि हन्ना आरेंट का जोर अनुप्रयुक्त राजनीति (वीटा एक्टिवा) पर है जिसे वह राजनीतिक कर्म कह रही हैं। निश्चित ही, हन्ना आरेंट का संकेत सुकरात की 'संवाद विधि' की तरफ है, पर संवाद का आधार तो बुद्धि ही होगी जैसा सुकरात कह रहे हैं कि 'युक्ति की पालना हर हालत में करनी होगी, परिणाम कुछ भी हो'[8]। पर इस स्थिति में संवेदना और भावों के लिए अवसर बहुत कम रह जाता है। हालाँकि हन्ना का जोर हर हालत में सहमति बनाने पर है, लेकिन सहमति का आधार क्या होगा? हन्ना आरेंट के लिए अनुप्रयुक्त राजनीति (वीटा एक्टिवा) ही एक मार्ग है, जहाँ एक व्यक्ति तमाम प्रकार के राजनीतिक (नैतिक) गुणों को अर्जित कर समाज में भागीदारी करता है। अब अगर राजनीति का आदर्श समूह हित से व्यापक सम्पूर्ण जगत की सामूहिकता है (वसुधैवकुटुम्बकम्) तो इसका आधार आध्यात्मिक दिव्यता होगी। उल्लेखनीय है कि ग्रीक विचारकों ने राजनीतिक गुणों और सर्जनशीलता को बौद्धिकता के आधार पर समझा जबकि ब्राह्मिक परम्परा में इन्हें धार्मिकता (आध्यात्मिकता) के आलोक में व्याख्यायित किया गया है। दूसरा, भारतीय चिंतन परम्परा में राजनीति की अपेक्षा सामाजिकता पर व्यावहारिक रूप में अधिक जोर दिया गया है, जिसके कारण ही भारतीय जनमानस में सामाजिक चेतना तो रही है पर राजनीतिक चेतना की निरंतर कमी रही है और इस सामाजिकता का आधार धार्मिकता ही रही है, जिसकी झलक मध्यकाल में भक्ति आंदोलन में साफ नजर आती है। रामचरितमानस में तुलसीदास की एक चौपाई है कि 'कोउ नृप होउ हमहि का हानी। चेरि छाड़ि अब होब कि रानी।।'[10] मंथरा कहतीं हैं कि किसी के राजा होने से उसे क्या फर्क पड़ने वाला है? वो तो दासी ही रहेगी, रानी तो होगी नहीं। हालाँकि मंथरा के किरदार में तमाम अनैतिक गुण दिखाए गए हैं पर एक व्यक्ति के आस्तित्व को लेकर इस प्रसंग में गहरे

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अर्थ हो सकते हैं, यहाँ उस दासी की अस्तित्वात्मक पीड़ा की झलक है, जिसे राज्यव्यवस्था से कोई उम्मीद नहीं रह जाती।

तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से उपनिषदों में सामूहिकता की व्याख्या चेतना की उच्चतम अवस्था (ब्रह्म) जो कि अपने स्वरूप में पूर्ण रूप से आध्यात्मिक ही है, के आधार पर ही की गयी है। पर भारतीय समाज का जो ताना बना दिखता है, उसमें हाशिए पर स्थित विभिन्न समूहों को क्या इस वेदान्तिक दृष्टि से समाज व राज्य में सहभागिता का कोई अवसर मिलता है, जिससे यथार्थ में सामूहिकता की अभिव्यक्ति हो सके? यह एक कटु सत्य है कि भारत की वर्तमान परिस्थितियों में धार्मिक कट्टरता और जातिगत वैमनस्य, राजनीतिक और आर्थिक विषमता में कोई ख़ास कमी नहीं दिखाई देती है। मेरे विचार में तत्त्वमीमांसीय चिंतन (वेदांत) के आधार पर व्यावहारिक स्तर पर एक सभ्यता विमर्श खड़ा करने की जरूरत है। इस दिशा में भारत के आधुनिक चिंतकों विवेकानंद, दयानंद, श्री अरविंद, गांधी आदि ने अपने–अपने तरीकों से वैदिक दर्शन की ऐतिहासिक परिस्थितियों में व्यावहारिक व्याख्या की है। लेकिन इस संदर्भ में यह भी देखना महत्त्वपूर्ण है कि सामाजिक न्याय (सोशल जस्टिस) के सवाल पर ज्योतिर्राव फुले, ई. वी.रामस्वामी (पेरियार) और अम्बेडकर आदि ने भी भारतीय परम्परा की अबौद्धिक संस्थापनाओं, रूढ़ियों, कुरीतियों पर सवाल उठा कर निश्चित ही वंचितों और हाशिए पर स्थित लोगों के लिए एक राह बनायी जिससे कि भारतीय लोकतंत्र में सभी का प्रतिनिधित्व हो सके और सामूहिकता की अभिव्यक्ति हो सके।

उत्तर–आधुनिकता : विभिन्न समूहों की अलग पहचान का विमर्श

हालाँकि उत्तर–आधुनिकता की अवधारणा को किसी एक सिद्धांत, सूत्र, समीकरण एवं विचारधारा से समझ पाना कठिन है, क्योंकि वस्तुतः इसमें कोई केंद्रीय अथवा मूल विचार दृष्टि नहीं है। हाँ इसे आधुनिकता, उदारवादी पूँजीवादी व्यवस्था और तकनीकी के समीकरण से उत्पन्न परिस्थितियों से समझा जा सकता है और इस अर्थ में उत्तर–आधुनिकता आधुनिकता की प्रतिक्रिया है, जहाँ कोई एक सार्वभौमिक सत्य, मूल्य और ज्ञान नहीं, अपितु छोटे छोटे समूहों के अपने–अपने सत्य, मूल्य और ज्ञान हैं, जो आपसी टकराहट से एक समय में कई विमर्शों को जन्म देते हैं। सिद्धांततः पश्चिम में आधुनिकता का जोर केन्द्रीयता, एकरूपता, वस्तुनिष्ठता, यथार्थवाद पर है, जिसकी प्रतिष्ठा तार्किक बुद्धि के द्वारा चर्च की धार्मिकता और आस्था के ताने–बाने को तोड़ कर पुनर्जागरण काल

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(रेनेसाँ) से हुयी। लियोटार्ड उतर–आधुनिकता को परिभाषित करते हुए कहते हैं – यह मेटा–नरेटिवे पर अविश्वास की प्रक्रिया है"। मेटा–नरेटिवे का आशय ज्ञान के मूल आधार व स्रोत से है जो कि विज्ञान, इतिहास की प्रगति, विचारधारा, धर्म, ईश्वर आदि कुछ भी हो सकते हैं। आधुनिकता के प्रतिवेदन में उत्तर आधुनिकता विकेंद्रीकरण, अलग पहचान और विखंडन का विमर्श है। इस अर्थ में ये विचारधाराओं का अंत और विमर्शों की शुरुआत है। उत्तर–आधुनिकता बहुकेंद्रीयता पर आधारित है, जिसमें विभिन्न समूह जो कि हाशिए पर आ चुके हैं, अपनी पहचान, अस्मिता और अधिकारों के लिए संगठित होकर आवाज उठाते हैं।

भारत की समकालीन परिस्थितियों में उत्तर–आधुनिकता से उपजे विमर्शों – स्त्रीविमर्श, दलित विमर्श, आदिवासी विमर्श और अल्पसंख्यक विमर्श की दशा और दिशा पर थोड़ा ठहर कर सोचने की जरूरत है। निश्चित ही ये सारे विमर्श सैद्धांन्तिक रूप में विचारोत्तेजक लगते हैं, जिन पर विश्वविद्यालयों और अकादमियों में बौद्धिक वर्ग गम्भीर बहस करता है, पर व्यावहारिक स्तर पर आम जनमानस पर इसका प्रभाव कम है जिसका कारण है कि आम लोग इसके विभिन्न निहितार्थ और उसकी बारीकियों को, जो कि वास्तव में काफी जटिल है, नहीं समझ पातें हैं। भारत में निश्चित ही पितृसत्तात्मक सोच के जड़ें गहरी हैं, जिसके चलते स्त्रियों के अधिकारों का हनन और शोषण लगातार होता है। इसी तरह से दलित, आदिवासी और अल्पसंख्यक भी सामाजिक और राजनीतिक हिंसा के शिकार हैं। ऐसी परिस्थितियों में दो ही विकल्प शेष है – एक तो समूह के अधिकारों के लिए संघर्ष, जिसमें हिंसा सूक्ष्म या स्थूल रूप में शामिल है और पहचान का सवाल केंद्र में आ जाता है। दूसरा, जिसका जिक्र हन्ना आरेंट अपनी वीटा एक्टिवा में कर रही है– आपसी संवाद, सहभागिता और ताल–मेल से नया विमर्श खड़ा करने की अनेक कोशिशें, जहाँ विभिन्न समूहों की पहचानों को केंद्र ने ना रख कर मनुष्यों के आपसी सम्बंध को मैत्री सम्बन्धों की तरह एक खुले अनुबंध में समझा जाता है।

वस्तुतः जब पहचान को केंद्रीय स्थान दिया जाता है (जैसा कि दलित विमर्श के संदर्भ में हुआ) तो समूह के राजनेता लोग इस विमर्श का सतही जिक्र करके वोट की राजनीति के लिए समूह की भावनाओं को भड़का कर उनका उपयोग सत्ता पाने के लिए करते हैं। साथ ही सम्पूर्ण व्यवस्था और राज्य सत्ता से एक प्रकार का आपसी समझौता करते हैं, जिससे कोई मौलिक पारिवर्तन या सुधार समूह के लोगों के जीवन स्तर में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नहीं आता है। इस प्रसंग में पुस्तक का विचार उल्लेखनीय है– 'सम्पूर्ण व्यवस्था की हिंसा और उसके प्रतिरोध हेतु किसी विशिष्ट समूह के माँग के बीच जो समझौता होता है, उसमें भले ही लोकतांत्रिक चरित्र की झलक मिलती हो, परंतु, इससे व्यवस्था की हिंसा को ही अधिक विस्तार मिलता है। इसके जरीए हिंसा अपने आस्तित्व का और भी अधिक विस्तार कर लेती है।' (दत्त और मिश्रा 2021:40) हालाँकि इन विमर्शों ने वंचित समूहों को भारतीय समाज में कुछ हद तक अवश्य ही पहचान दिलायी है, पर इस प्रक्रिया में, एक समूह लगातार आत्म–केंद्रित हित समूहों में पुनः विभाजित होते जा रहे हैं और जिससे उनका संगठन कमजोर हो रहा है। साथ ही इन समूहों में, लोगों के बीच व्यक्तिगत हित की लालसा बढ़ती जा रही है और जिसके कारण एक व्यक्ति समूह के हित को दरकिनार कर दूसरों से कोई भी समझौता करता है। असल में, उन नैतिक और राजनीतिक मूल्यों (जिसका जिक्र हन्ना आरेंट कर रहीं हैं) की उपेक्षा ही, इन सारी विषम परिस्थितियों का कारण है। असल में इन (राजनीतिक) मूल्यों की अभिव्यक्ति व्यक्तिगत अथवा किसी एक विशेष समूह के हितों को केंद्र में रख कर नहीं की जा सकती है। लेखकों का मत है कि 'राजनीति यदि विचारधारा, पार्टी या नेतृत्व के कारण खुले अनुबंध के जगह बंद अनुबंध में बदल जाए तो फिर जिस शक्ति के प्रयोग का दावा यह करती है, वह हिंसा हो जाती है, क्योंकि, अनुबंध का निर्देशक तत्त्व चाहे जाति हो, भाषा हो, इतिहास का गौरव हो या विचारधारा, वह है तो एक साधन ही। परंतु विडम्बना यह है कि उन्हीं साधनों से हम शासित होने लगते हैं।' (दत्त और मिश्रा 2021:82)

अंततोगत्वा उत्तर आधुनिकता में वो सारे केंद्रीय मूल्य और तत्त्व नष्ट हो जाएँगे जिन्हें सर्वभौमिक माना जा सकता है और जिनसे मनुष्य की क्रिया–प्रतिक्रिया निर्धारित होती है – ना ईश्वर होगा ना धर्म ना विचारधारा ना ही तर्क की केंद्रीय स्थिति होगी। उत्तर आधुनिकता कई अंतर्विरोधी परिस्थितियों और आशंकाओं को अपने अंदर समेटे हुए है, क्योंकि कभी संस्कृति बोध के नाम पर अंधविश्वासों, कुरीतियों की वकालत करने लगती है तो कभी पूँजीवादी व्यवस्था और तकनीकी से मिलकर उपभोग की संस्कृति को विस्तार देने लग जाती है। इस अर्थ में उत्तर आधुनिकता, आधुनिकता का ही अप्रत्यक्ष प्रभाव (रीपर्कशन) है।

मानवीय अस्तित्व के विरोधाभास

मानव अस्तित्व को समझने के लिए इस बिंदु पर थोड़ा विचार करने की आवश्यकता है कि भौतिकता और चेतनता एवं ऐतिहासिकता और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अऐतिहासिकता (ट्रानसेंडेन्स) के विरोध और अंतर–सम्बन्ध को किस प्रकार समझा जा सकता है? मेरी दृष्टि में मनुष्य के'होने की जागरूकता' (सेल्फ अवेरनेस) से ही इस अंतर–सम्बन्ध की कड़ी नजर आती है जिससे वह परिस्थितियों से ना केवल सृजित होता है, बल्कि अपनी स्वचेतनता से इन वर्तमान परिस्थितियों का अतिक्रमण कर भविष्य की नयी परिस्थितियों का सृजन–करता है। सामान्यतः काल को क्रमिक प्रवाह के रूप में समझा जाता है, जिसमें भूत, वर्तमान और भविष्य का इस प्रकार भेद किया जाता है– जो बीत गया वह भूत है, जो अब है वह वर्तमान और जो आने वाला है वह भविष्य है। किंतु फेनोमेनोलोजी के नजरिए से मानव चेतना विभिन्न कालों (भूत, वर्तमान और भविष्य) में एक साथ भागीदारी करने लगती है। हायड़ेगर के अनुसार काल मानव आस्तित्व (बीइंग) का एक आयाम है, मानवीय चेतना के हर क्षण में भूत और भविष्य तथा वर्तमान है। यह एकात्मक संवृति (यूनिटेरी फेनोमेना[12]) का परिचायक है – एक ओर मनुष्य अपनी स्मरण शक्ति से (जिसमें दूसरों की भी सहभागिता है) से तो दूसरी ओर अंपनी कल्पना शक्ति (जिसमें बौद्धिकता है) से और लगातार वर्तमान में अपने 'स्व' का सृजन करता है।

मनुष्य के होने में दो विरोधी प्रवृतियाँ मौजूद हैं। मनुष्य को केवल स्वार्थी, दुष्ट, हिंसक और असुरक्षित जैसा कि हॉब्स मान रहें हैं, नहीं कहा जा सकता; अपितु इसमें परोपकार, सहानुभूति, करूणा, दया आदि की प्रवृतियाँ भी विद्यमान हैं। जोसेफ बटलर[13] स्वप्रेम और परोपकार की प्रवृतियों के बीच मूलतः कोई विरोध नहीं देखते बल्कि इन्हें एक दूसरे का सम्पूरक बताते हैं और इनमे विरोध प्रकट होने की स्थितियों में अंतरात्मा (कांशेंस) को ही अंतिम अथॉरिटी के रूप में निर्णायक शक्ति मानते हैं। मनुष्य के अंतस में दोनों तरह के भाव हैं – क्षमा–क्रोध, घृणा–प्रेम, विराग–राग जिसके कारण ही सुख–दुःख की मानसिक अनुभूति होती है साथ ही वो समाज में भागीदारी कर सृजनात्मक कार्य भी करता है, मनुष्य ने भाषाई क्षमता से अवधारणाओं, प्रतीकों और नैतिक व धार्मिक मूल्यों का सर्जन किया और वर्तमान के जैविक स्तर से निकल कर भूत और भविष्य की ओर उन्मुख हुआ। इसी से मनुष्य ने प्रकृति की गोद से निकल कर संस्कृति के विहार में प्रवेश किया, साथ ही हथियार व औजार बनाये जिससे वह प्राकृतिक आपदाओं और हिंसक पशुओं से अपने को सुरक्षित कर सके और भविष्य में स्थायित्व और आराम पा सके। परंतु कालांतर में आधुनिकता के साथ विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में हुयी अभूतपूर्व प्रगति से मनुष्य ने प्रकृति का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शोषण कर, उपभोग की अनेकों वस्तुओं को जुटाकर प्रकृति से पूरी कट कर, वस्तुओं का लुभावना जगत निर्मित कर लिया और अपने अहम् (व्यक्तिगत चेतना) को लगातार पुष्ट करता गया। पुस्तक के लेखकों का विचार महत्त्वपूर्ण है कि जिस प्रकार प्रकृति में स्थायित्व और नूतनता है उसी प्रकार मनुष्य भी स्थायित्व के साथ नूतनता अर्जित करना चाहता है। 'स्थायित्व की चाह एवं नूतनता का आनंद प्राप्त करने की इच्छा मनुष्य में उतनी ही मौलिक है, जितनी भूख प्यास और यौन इच्छा। स्थायित्व के माध्यम सी वह सुरक्षा चाहता है और निरंतरता के माध्यम से वह स्वतंत्रता चाहता है।'(दत्त और मिश्रा 2021:39) पर नित्य नूतनता की चाह में उपकरण बनाने वाले मनुष्य ने अवधारणा बनाने वाले मनुष्य को काफी पीछे छोड़ दिया क्योंकि भाषा विधान, समाज और संस्कृति नित्य नूतन नहीं हो सकते जबकि तकनीकी की सहायता से नित्य नयी नयी वस्तुओं का उत्पादन किया जा सकता है और यह भ्रम आसानी से फैलाया जा सकता है कि इनका उपभोग कर एक व्यक्ति नित्य नूतन संसार में आराम से जीवन यापन कर सकता है। स्वाभाविक है, जिनका उत्पादन के साधन (औजार और हथियार) पर कब्जा था उन्होंने राज्यों की शासन व्यवस्थाओं को प्रभावित कर दूसरों और प्रकृति के साथ प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष हिंसा करके अपना आधिपत्य जमाया।

मानवीय परिस्थितियाँ : व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन

ग्रीक विचारक अरस्तू मनुष्य को राजनीतिक प्राणी[14] कहते हैं और राजनीतिक (सार्वजनिक जीवन) जीवन में भागीदारी को शुभ कहते हैं क्योंकि इसमें एक व्यक्ति को नैतिक मूल्यों (वर्च्यू) की अभियक्ति के लिए पर्याप्त अवसर मिलता है और मानव समाज संगठित होता है। हन्ना आरेंट व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में मनुष्य की क्रियाओं को श्रम (लेबर), कार्य (वर्क) और कर्म (ऐक्शन) की कोटियों में समझने का प्रयास करतीं हैं। श्रम का सम्बंध शरीर की जैविक प्रक्रिया से है। यह शरीर की वृद्धि और मेटबॉलिज्म की पूर्ति का आधार है। वर्क का सम्बंध मानव निर्मित वस्तु जगत से है। मनुष्य अपनी वासना और इच्छाओं की पूर्ति के लिए लगातार कार्य कर इस वस्तुओं के संसार को निर्मित करता है। कर्म से आशय राजनीतिक कर्म से है। हन्ना आरेंट के लिए ऐक्शन ही एकमात्र ऐसी क्रिया है जो बिना किसी मध्यस्थता के मानव जीवन की बहुलता और सामूहिकता को अभिव्यक्त करती है। मनुष्य के पास जो रचनाधर्मिता और सृजनशीलता है, उसकी अभिव्यक्ति कर्म के द्वारा होती है क्योंकि इसका उद्देश्य सार्वजनिक हित होता है। इसी से मानव समाज को स्थायित्व मिलता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पुस्तक के लेखकों ने श्रम और कार्य के अन्तर–सम्बन्ध और इससे निर्मित साम्यतिक संरचना को भलीभाँति समझा है, असल में समय के साथ श्रम का बाजारीकरण हुआ और यह कार्य में परिवर्तित होता चला गया। शहरीकरण के साथ लोगों की उपभोग की जरूरतें बढ़ने के साथ श्रम से पूरी होने वाली जरूरतों के लिए मनुष्य बाजार पर निर्भर हो गया। आगे चलकर बाजार ने जैविक एवं पारिवारिक आवश्यकताओं के लिए श्रम को तो स्थान (स्पेस) दिया लेकिन श्रम बाजार में पहुँचने के क्रम में कार्य हो गया।

फलस्वरूप, श्रम और कार्य के द्वारा कभी ख़त्म ना होने वाली व्यक्तिगत और पारिवारिक जरूरतों को पूरा किया जाने लगा। साथ ही यह उम्मीद की जाने लगी कि इससे जीवन में खुशहाली आयेगी। आधुनिकता ने उदारवादी पूँजीवादी व्यवस्था के साथ मिलकर श्रम और कार्य पर जरूरत से अधिक जोर दिया और राजनीतिक कर्म को पूरी तरह से नकार दिया। हन्ना आरेंट का साफ मानना है की सभ्यताओं का पतन राजनीतिक कर्म (वीटा एक्टिवा) में आयी कमी के कारण ही हुआ है। (आरेंट 1989:199)

हिंसा, शक्ति और राजनीति : एक ज्ञानमीमांसीय विश्लेषण

यद्यपि हिंसा और शक्ति मानव अस्तित्व से किसी ना किसी प्रकार से सम्बन्धित हैं पर क्या हिंसा और शक्ति भी आपस में सम्बन्धित हैं? क्या शक्ति की अभिव्यक्ति हिंसा के द्वारा होती है? आधुनिकता के दौर में शक्ति को हिंसा से जोड़कर व्याख्यायित किया गया और इसकी पराकाष्ठा तब होती है जब माओ कहते हैं कि 'राजनीति रक्तरहित युद्ध है, युद्ध रक्तयुक्त राजनीति, तो वह राजनीति (शक्ति) और हिंसा को एक दूसरे का पर्याय मान रहे होते हैं'। (माओ 1965:105–106) पुस्तक के लेखकों का स्पष्ट विचार है कि शक्ति की अवधारणा को हिंसा से अलग कर समझा जाना चाहिए। लेखकों का आग्रह है कि शक्ति की व्याख्या सद्गुणों के आधार पर सामूहिकता के संदर्भ में ही की जानी चाहिए अन्यथा तो बहुजन व सर्वजन हिताय के उच्च आदर्श को नहीं प्राप्त किया जा सकता है। उदारवादी पूँजीवादी व्यवस्था और मार्क्सवाद दोनों ही प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से हिंसा को साधन बनाकर जिस साध्य (स्वतंत्रता और समता) को प्राप्त करना चाह रहे थे, वह व्यवहार में सम्भव नहीं हुआ, क्योंकि ये दोनों ही व्यवस्थाएँ सैद्धान्तिक रूप से हिंसा और शक्ति के विरोधभास को नहीं देख पा रही थीं। परिणामतः पूँजीवाद में कुछ पूँजीपतियों के पास ही पूँजी का सकेंद्रीकरण (काँसेंट्रेसन) हो गया जिससे एक बड़ा वर्ग पूँजी से पूरी तरह वंचित रह गया। उसके पास अपनी स्वायतत्ता को अभिव्यक्त करने का कोई अवसर नहीं रहा। और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जिनके पास आर्थिक संसाधन थे वे भी उपभोग की वस्तुओं के गुलाम होते चले गए। साम्यवादी व्यवस्था में भी आर्थिक असमानता को दूर करने के प्रयासों ने राजनीतिक असमानता में बढ़ोतरी की।

लेखकों ने शक्ति की अवधारणा पर विचार करते हुए ब्राह्मिक परम्परा से अनेक संदर्भों को उकेरा है जहाँ शक्ति को समूहिकता के अर्थ में समझा गया है। 'ब्राह्मिक परम्परा में सामूहिक स्रोत से सामूहिक कल्याण का परिणाम उत्पन्न करने वाले सामर्थ्य को शक्ति कहा गया है। शक्ति को सभी भूतों में अवस्थित कहा गया है और शक्ति को शक्तित्रयात्मक (सत्, रज और तम) भी कहा गया है जो कि सामूहिकता का परिचायक है। पर यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि शक्ति को माया के रूप में ब्रह्म की शक्ति गया है, और धर्म की स्थापना के लिए बार– बार शक्ति का आवाहन किया गया है। इस प्रसंग में धर्म और शक्ति के सम्बंध पर थोड़ा विचार करने की आवश्यकता है। भारतीय चिंतन परम्परा के दोनों महाकाव्यों (महाभारत और रामायण) में धर्म की स्थापना के लिए दो युद्धों का वर्णन है जिसमें हुयी हिंसा को किस प्रकार न्यायसंगत (नैतिक) कहा जा सकता जाता है?इस प्रश्न के उत्तर के लिए (पुस्तक के) लेखकों ने कृष्ण और अर्जुन के संवाद का संदर्भ लिया है जहाँ कृष्ण कह रहें हैं 'त्रैगुण्यविषयावेदा निस्त्रैगुण्यो भावर्जुन'। इसका आशय है कि ब्रह्म की जो माया रूपी त्रिगुणात्मक शक्ति है, वह बंधनकारी है जिसके कारण ही मनुष्य प्रकृति के नियमों के आगे विवश है, पर ज्ञान के द्वारा मनुष्य अपने धर्म का पालन कर माया के बंधन से मुक्त हो सकता है। धर्म के जो विभाग हैं उनसे शरीर धर्म, जाति धर्म, कुल धर्म, आपद् धर्म की रचना होती है। लेखकों का तर्क है कि 'सामान्यतया लोग आपद् धर्म को शाश्वत धर्म समझ लेने की भूल कर बैठतें हैं'। (दत्त और मिश्रा 2021:75) पर प्रश्न अभी भी खड़ा है की शाश्वत धर्म क्या है? कैसे एक आम व्यक्ति इस माया के बंधन से निकल सकता है? गीता में कृष्ण योग साधना (ज्ञान, कर्म, भक्ति) के जरिए चेतना का उदात्तीकरण कर विषयों से अनाशक्त होने का निर्देश दे रहे हैं। गीता वेदांत (उपनिषदों) की संस्थापनाओं के आधार पर ही मनुष्य को मूलतः चैतन्य आत्मा बताती है जो ना मारती है ना कोई उसे मार सकता है। पर इस विमर्श में आस्था पर बुद्धि की अपेक्षा अधिक जोर दिया जा रहा है क्योंकि जब कृष्ण कह रहे हैं कि मैं जो कह रहा हूँ वही शाश्वत धर्म है तो ये बात तर्कबुद्धि से ग्राह्य नहीं है और शायद इसलिए हि अर्जुन बार बार प्रश्न खड़े कर रहें हैं, और नैतिक दुविधा में फँसे हुए हैं। पर अंत में कृष्ण पर आस्था रखकर ही अपना कर्तव्य (धर्म) निभा पाते हैं। अब ऐसी स्थिति में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनाशक्त भाव से किया जाने वाला कर्म नैतिक होगा, क्योंकि उसे आध्यात्मिक/पारमार्थिक जगत का आधार मिल जाता है। इस प्रकार युद्धों में हुयी हिंसा को नैतिक कहा जा सकता है। एक अन्य प्रसंग (रामायण) में लेखकों का तर्क है जब राम बाली का वध (हिंसा) करते हैं तो दो टाइम फ्रेम में काम करते हैं, एक भरत के प्रतिनिधि होने के कारण दुष्टों को दंड देने के प्राधिकार से सम्बंधित है तो दूसरा टाइम फ्रेम ईश्वरत्व का है जो बाली की मुक्ति से सम्बंधित है। यहाँ विचारणीय है कि राम और कृष्ण दोनों ही ईश्वरत्व को प्राप्त चैतन्य आत्मा हैं जो अनासक्त भाव में स्थित होकर श्रम और कार्य की परिधि का अतिक्रमण कर धार्मिक (नैतिक) कर्म कर रहें हैं। इसी कारण महात्मा गांधी भी रामायण और महाभारत में हुयी हिंसा को नैतिक कर्म ही मान रहें हैं ना कि अनैतिक (हिंसा)। पर इस संदर्भ यह देखना रोचक है कि वह स्वयं अहिंसक सत्या ग्रह का अवाहन कर, नैतिक चेतना की अभिव्यक्ति में मान रहें हैं कि यदि अन्यायी का परिचय उसकी स्वचेतनता (अंतरात्मा) से हो जाए तो वह सहर्ष अन्याय छोड़ने को तत्पर हो जाएगा। इस संदर्भ में एक दार्शनिक जिज्ञासा उठती है कि अध्यात्म और नैतिकता में क्या सम्बंध है? क्योंकि दोनों से ही सामूहिकता और सृजनात्मकता की ही अभिव्यक्ति होती है? क्या कारण है कि महात्मा गांधी यक़ीन रखते हैं कि असल में मनुष्य आत्मचेतन आध्यात्मिक प्राणी है, जिसमें 'स्व' से साक्षात्कार की असीम संभावनायें हैं। फिर प्रश्न उठता है कि राम ने बाली या संबुक को मृत्यु दंड क्यों दिया? उनकी स्वचेतनता से उसका परिचय करने का प्रयास क्यों नहीं किया? इसका एक उत्तर यह हो सकता है कि ये भगवान की अपनी लीला थी, जिसमें बाली व संबुक की मुक्ति थी और सामाजिक स्तर व व्यावहरिक स्तर पर राजनीतिक कर्म जिससे समाज में नैतिक मूल्यों की स्थापना हो सके। हालाँकि इस उत्तर में आस्था की ही प्रधानता है पर यह बात भी महत्त्वपूर्ण है कि आध्यात्मिकता एक समय में किसी व्यक्ति विशेष में किस प्रकार से अभिव्यक्त होगी? इसको तर्कबुद्धि से समझ पाना अत्यंत ही कठिन है। इसलिए ही हम पाते हैं कि राम, कृष्ण, गाँधी, बुद्ध आदि में आध्यात्मिकता अलग अलग तरह से अभिव्यक्त होती है।

हन्ना आरेंट सामूहिकता की शक्ति को आध्यात्मिकता के नजरिए से नहीं देखतीं, अपितु ग्रीक दर्शन की बौद्धिकता से ही समझने का प्रयास कर रहीं हैं। सुकरात की ही तरह उनका जोर भी जीवन की समस्याओं/प्रश्नो को संवाद से सहमती बनाकर हल करने में है। वह कहतीं हैं – 'शक्ति मनुष्य के कार्य करने की क्षमता है, जिसका सम्बंध मात्र

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

करने से नहीं बल्कि सहमति से कार्य करने से है। शक्ति कर्म (ऐक्शन) करने की क्षमता है और सही कर्म करना ही नहीं बल्कि सहमति से कर्म करना है'। (आरेंट 1969 : 44–45)

सर्वाधिकारवाद : सामूहिक हिंसा की अभिव्यक्ति

निश्चित ही हिंसा और सर्वाधिकारवाद के बीच गहरा रिश्ता है क्योंकि सार्वधिकारवादी राज्य व्यवस्था में निरंकुश तानाशाह को सामूहिक हिंसा करने की वैधता मिल जाती है। लेखकों ने पाठक का ध्यान इस तथ्य पर खींचा है की व्यक्तिवादी चेतना का विस्तार ही सर्वाधिकारवाद की नींव तैयार करता है। 'वस्तुतः व्यक्तिवादी चेतना स्वाभाविक रूप से अराजकतावाद की ओर ले जाती है और अराजकतावाद से मुक्ति की कामना निरंकुश शासन के तर्क को वैधता प्रदान करती है'। (दत्त एवं शर्मा 2021:95) इसी कारण अराजकता की स्थिति से निपटने के लिए सामाजिक समझौते और संप्रभु राज्य के सिद्धांत को प्रस्तावित किया गया। इस संदर्भ में मेरी समझ में दो बिंदुओं पर विचार करना आवश्यक है– पहला, क्या वास्तव में प्राकृतिक अवस्था में अराजकता की स्थिति रही होगी और जिसमें व्यक्ति को इसलिए व्यक्ति (एटोमिस्टिक इंडिविजूअल) कहा जा सकता है, क्योंकि प्रारम्भ में भी मनुष्य समूह (कबीलों) में ही रहा होगा व किसी ना किसी समूह–चेतना को ही अभिव्यक्त कर रहा होगा। हां यह बात अलग है कि कबिलाई समाज में कोई सरदार उनका नेतृत्व कर रहा होगा पर क्या वह निरंकुश और पूरी तरह से स्वछंद रहा होगा? या फिर उस पर तमाम प्रकार की धार्मिक व सामाजिक बाध्यता का आरोपण भी हो रहा होगा जिससे वह निरंकुश नहीं हो सकता है। इस पर ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय नजरिए से पुनः विचार करने करने की आवश्यकता है। लेखकों का भी मत है कि अराजकता का कारण मानव की मूल प्रकृति नहीं, जैसा हॉब्स मान रहे हैं, बल्कि विज्ञान और अर्थव्यवस्था का मानव प्रकृति के विरूद्ध हो जाने में था। दूसरा, जिस पर लेखकों ने सवाल उठाया है कि क्या अराजकता से निपटने के लिए संप्रभु राज्य की स्थापना ही एकमात्र शर्त रही होगी या फिर लोग हिंसा का त्याग कर आपसी संवाद के जरिए आपसी संवाद क़ायम कर सकते थे जिसका उल्लेख हन्ना आरेंट अपनी राजनीति की अवधारणा और महात्मा गांधी अपने स्वराज को प्राप्त करने के प्रयासों में कर रहे हैं।

हन्ना आरेंट अपनी पुस्तक 'द ओरिजिन्स ऑफ टोटेलिटैरियनिज्म में सर्वाधिकारवाद का उद्भव सामी विरोध (एंटिसेमिटीज्म) जिसने यहूदियों के प्रति घृणा और नफरत को जन्म दिया, से मानतीं हैं। उनका कथन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

महत्त्वपूर्ण है कि 'सामी विरोध का आधुनिक रूप मध्ययुगीन रूढ़ियों का एक नया सेकूलर संस्करण है'। (आरेंट 1973:xi) इस कथन के संदर्भ में इस पुस्तक ने राष्ट्रवाद, सेक्यूलरिज्म और सर्वाधिकारवाद के अन्तरसम्बंधों पर एक रोचक बहस छेड़ दी है और यह दिखाने का प्रयास किया है की अब्राह्मिक धर्मों का स्वरूप अपनी मूल प्रवृति में सेक्यूलर ही है जब की ब्राह्मिक धर्मों का स्वरूप धार्मिक है। लेखकों का तर्क है कि अब्रह्मिक संप्रदायों में ईश्वर जगत से निरपेक्ष रह सकता है जिससे मनुष्यों को सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक मामलों के संचालन में पूरी स्वतंत्रता है। ईश्वर में सच्ची आस्था और प्रेम और उसकी कृपा से बिना सत्कर्म के द्वारा ही स्वर्ग का मार्ग खुला है। साथ ही पुनर्जन्म में विश्वास ना होने के कारण दोबारा इस जगत में वापसी नहीं तो प्रकृति के उपभोग की पूरी छूट मिल जाती है। इसके विपरीत ब्राह्मिक सम्प्रदायों में सेकूलर होने के लिए अवकाश बहुत ही सीमित है क्योंकि सभी सम्प्रदाय कर्मफल में विश्वास करते हैं और सारे देवी देवता भी उसमें अधिक हेर फेर नहीं कर सकते हैं। देवताओं का राजा इंद्र भी इसी कर्म–फल नियम की सुरक्षा में तैनात है। सत्कर्मों और ज्ञान से एक व्यक्ति की मुक्ति संभव है। तात्पर्य है कि सारे सांसारिक मामले सीधे तौर पर धार्मिकता (नैतिकता) से जुड़े हुए हैं। हालाँकि इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता कि ब्राह्मिक परम्परा के केंद्र में ऋत[15] (कास्मिक ऑर्डर) है जिससे प्रकृति और मनुष्य दोनों ही संचालित होते हैं। और मनुष्य पूरी तरह से कर्मफल से बंधा है। परंतु मेरी समझ में दोनों परम्पराओं को लेकर जो भेद किया गया है उसमें काफी सामान्यीकरण हो गया है क्योंकि ब्राह्मिक और अब्राह्मिक धर्मों के अंदर भी बहुत सारे सम्प्रदाय हैं जिनकी अपनी तत्त्वमीमांससीय संस्थापनाएँ और विश्वास हैं। उदाहरण के लिए भक्ति सम्प्रदायों (शाक्त, वैष्णव शैव आदि में) में ईश्वरीय सत्ता (सगुण और निर्गुण) को ज्ञान और सत्य से ऊपर सर्वोच्च सत्ता प्राप्त है। इसी कारण भारतीय दर्शन परम्परा में ज्ञान (सत्) और आस्था के सम्बंध और विरोध को लेकर एक गहन दार्शनिक विमर्श है।

हिंसक राष्ट्रवाद अथवा अहिंसक राष्ट्र चेतना

भारत की समकालीन परिस्थितियों में राष्ट्रवाद का आधार भी एक बड़े समुदाय की कृत्रिम सामूहिकता (भीड़) है जहाँ पर मिथकों, कहानियों किस्सों, प्रतीकों के माध्यम से अतीत को महिमामंडित कर लोगों की भावनाओं को इस तरह से उत्तेजित किया जाता है कि एक बड़ा समुदाय अपनी बौद्धिक चेतना को खो बैठता है और वह ना केवल राजनेताओं के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अप्रजातांत्रिक और जन विरोधी नीतियों को स्वीकार करता है बल्कि उसके प्रचार–प्रसार में तेजी से लग जाता है। यह समुदाय अपनी स्वचेतना व निर्णय लेने की क्षमता को पूरी तरह विस्मृत कर राजनेताओं का अनुयायी बन जाता है और उसी उसके विरोध में उठने वाले छिट–पुट स्वरों को तेजी से हिंसात्मक तरीक़ों से दबाता चला जाता है।

आज का राष्ट्रवाद असल में आधुनिकता, उदारवादी पूँजीव्यवस्था और तकनीकी के समीकरण से उपजा है जिसमें सूचना और प्रौद्योगिकी की सहायता से एक कृत्रिम वातावरण (वर्चूअल स्पेस) तैयार किया जाता है। इन सब कारणों से एक व्यक्ति अपने सोचने, समझने और प्रश्न करने के सामर्थ्य को जो उसे मनुष्य होने के कारण सहज ही मिला हुआ है, खो बैठता है और मानसिक रूप से पूरी तरह गुलाम होकर पूँजी के विस्तार में यांत्रिक ढंग से रोबोट की तरह पूँजीपतियों और राजनेताओं के निर्देशों पर कार्य करने लगता है। इस झूठे राष्ट्रवाद की छत्र–छाया में ही सर्वाधिकरवादी शासन व्यवस्था का जन्म होता है, जिसमें लोग निरंकुश तानाशाह के पीछे नतमस्तक होकर चलने लगते हैं और उन्हें लगातार यह भ्रम बना रहता है कि वह उसके नेतृत्व में श्रम और कार्य करके उपभोग की वस्तुओं को जुटाकर एक खुशहाल जीवन जीयेंगे।

इस आधुनिकता और उदारवादी–पूँजीवादी व्यवस्था के समीकरण वाले राष्ट्रवाद के विरूद महात्मा गाँधी के स्वराज्य में राष्ट्र लोगों के संवाद, आपसी मेलजोल, सहभागिता और अतःकरण की सुचिता से निर्मित होता है। लेखकों का मत है भारतीय परम्परा में सांस्कृतिक एकता और सामाजिक सामंजस्य और समरसता से ही राष्ट्र का निर्माण होता है। इसे ब्राह्मिक परम्परा में तीर्थ की अवधारणा से भलीभाँति समझा जा सकता है। महात्मा गाँधी मानते थे कि अँग्रेजों की रेल ने भारत को राष्ट्र नहीं बनाया बल्कि पैदल और बैलगाड़ी पर होने वाली यात्राओं ने भारत में एकता विकसित करने में अँग्रेजों के रेलगाड़ी से अधिक सहायक थीं क्योंकि पैदल और बैलगाड़ी पर होने वाली तीर्थ यात्राओं में लोग एक दूसरे की भाषा सीखकर संवाद क़ायम करते थे। निश्चित ही, जब तकनीकी का विकास नहीं हुआ था तो लोगों के बीच संवाद सहभागिता और सहजता के लिए अधिक अवसर थे। इन तीर्थ यात्राओं से व्यक्ति विभिन्न प्रकार के रीति रिवाज, तीज त्योहार, रहनी–सहनी के तौर–तरीके को जान पता था। इसी से वह विभिन्न प्रकार के सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों और धार्मिक संस्कारों से परिचित होता था। इतना ही नहीं इसमें प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से भागीदारी कर दूसरों

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(अन्य) के प्रति भावनात्मक स्तर पर आपसी जुड़ाव महसूस करता था। आदिशंकराचार्य[16] ने भारत में विभिन्न दिशाओं में मठों के स्थापना करके ना केवल भारत को भौगोलिक रूप से जोड़ा बल्कि भारतीय जनमानस के बीच एक सामूहिक चेतना का विस्तार कर सांस्कृतिक राष्ट्र की नीव रखी।

उपसंहार

पुस्तक मानव स्वभाव, परिस्थितियों और हिंसा के प्रत्यक्ष एवं संरचनात्मक रूपों को सनातन परम्परा, अब्राह्मिक परम्परा और साथ ही साथ आधुनिक सभ्यता के सदंर्भ में समझने का एक सार्थक प्रयास है। लेखकों का विचार है कि मनुष्य का अहम और दम्भ ही, जिससे व्यक्तिगत चेतना का विस्तार होता है, हिंसा का मूल कारण है। मनुष्य अपनी अज्ञानता के कारण अपने उस बौद्धिक और आध्यात्मिक स्वरूप के प्रति सचेतन नहीं हो पता है, जिसकी अभिव्यक्ति सामूहिकता में होती है।

पुस्तक मानवीय आस्तित्व के मूल को, सामूहिकता के संदर्भ में समझने की प्रयास करती है, और सामूहिकता को समझने के लिए ग्रीक और ब्राह्मिक परम्परा से, क्रमशः बौद्धिकता और आधात्मिकता का आधार लिया गया है। लेखकों का जोर बौद्धिकता और आध्यात्मिकता के सम्बंध, उनकी समानताओं और सादृश्य को देखने पर है। पर हन्ना आरेंट की इस सामूहिकता का आधार ग्रीक परम्परा की राजनीति की अवधारणा है जिसके केंद्र में बौद्धिकता है जब की लेखक जिस सामूहिकता की बात उठा रहे हैं उसके मूल में ही आध्यात्मिकता है। अतः इन संस्थापनाओं (बौद्धिकता और आध्यात्मिकता) के विरोध और अंतर पर भी ऐतिहासिक संदर्भ में विचार करना जरूरी है जिससे की सामूहिकता के निहितार्थ को दार्शनिक स्तर पर समझा जा सके और दोनों (ग्रीक और भारतीय) परंपराओं के विशिष्ट सांस्कृतिक विन्यासों और सभ्यता दर्शन को उकेरा जा सके है।

लेखक जब हन्ना आरेंट के राजनीतिक कर्म (वीटा एक्टिवा) पर विचार करते हुए सामूहिकता की शक्ति को ब्राह्मिक परम्परा के तत्त्वमीमांसीय और आध्यात्मिक संदर्भो से देख रहे हैं, तो कुछ हद तक उस कसौटी की अनदेखी हो रही है जिस पर हन्ना आरेंट का जोर है, मेरी समझ में, वह है – वैचारिक समझ (बुद्धि) के साथ व्यक्तियों की समाज में अपने–अपने दायित्वों के साथ, अपने–अपने अधिकारों के लिए एक राजनीतिक भागीदारी। हन्ना आरेंट मनुष्य के अस्तित्व को उसके द्वारा अर्जित राजनीतिक चेतना के मापदंड से ही समझने की कोशिश करतीं हैं, जबकि लेखकों ने ब्राह्मिक परम्परा के जिन संदर्भों का जिक्र किया है उसमें

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मानवीय अस्तित्व को अनासक्त भाव (आध्यात्मिकता की चेतना) से ही समझा गया है। इसलिए ही अनासक्त योग में व्यक्ति ना केवल अन्य मनुष्यों से अपितु सम्पूर्ण प्रकृति के साथ ही एकाकार होकर सामूहिकता की अभिव्यक्ति करता है।

लेखकों का मत महत्त्वपूर्ण है कि पूँजीवादी व्यवस्था पूँजी का विस्तार करते हुए व्यक्ति की स्वतंत्रता को औद्योगीकरण, शहरीकरण, बाजारवाद और वस्तुओं के उपभोग में देखती है। पर पूँजीपतियों को ही प्राकृतिक संसाधनों का स्वामित्व प्रदान करती है जिससे समाज में असमानता तेजी से फैल जाती है। इस ऐतिहासिक परिस्थिति का अंत मार्क्सवादी और अस्तित्ववादी दोनों ही उदारवादी– पूँजीवादी वर्ग सम्बन्धों के नाश के रूप में देखते हैं जिसके लिए रक्त–क्रांति को अपरिहार्य बताते हैं। इस संदर्भ में लेखकों का तर्क समचीन प्रतीत होता है कि क्रांति तो आवश्यक है परंतु, यह क्रांति एक घाव भरने के लिए दूसरे घाव का निर्माण जैसी नहीं होनी चाहिए। हेगल और मार्क्स दोनों ही इतिहास का प्रयोग हिंसा को न्यायोचित ठहराने में करना चाहते हैं, पर एक सवाल हमें सोचने पर बाध्य करता है कि इन हिंसक क्रांतिकारी आंदोलनों में एकजुटता क्यों नहीं रह पाती है? ऐसे आंदोलनों के अंदर पुनः कई ख़ेमे बन जाते हैं जो किसी भी प्रकार से सत्ता पाना चाहते हैं।

हिंसा (साधन) से साध्य की प्राप्ति का सिद्धांत एक विरोधाभास से ग्रसित है जहाँ मनुष्य आत्म केंद्रित होकर अपने सामूहिक आस्तित्व को पूरी तरह से नकारता चला जाता है। इस प्रसंग में जब भारतीय परम्परा में भी आध्यात्मिकता व धार्मिकता का हवाला देकर जब धर्म युद्ध (हिंसा) को न्यायोचित ठहराया जाता है तो भी यह विचारणीय है कि इस धर्मयुद्ध (हिंसा) के पीछे अनासक्त भाव है या नहीं जिसका संकेत गांधी कर रहें हैं।

मनुष्य की अस्तित्वात्मक पीड़ा और विरोधाभास को समझने के लिए उसकी ऐतिहासिक परिस्थितियों और उसमें उसकी सचेतन भागेदारी की दशा और दिशा पर विचार करना जरूरी है। मानव की संस्कृति से आधुनिक सभ्यता तक की इस यात्रा में उसके नकारात्मक और हिंसक भावों यथा क्रोध, घृणा, भय आदि की लगातार अभिव्यक्ति होती रही है, जबकि सकारात्मक भावों, प्रेम, बंधुत्व, उदारता, परोपकार आदि जिससे उसकी सामूहिकता अभिव्यक्त होती है, में लगातार कमी आती जा रही है। परिणामतः आज मनुष्य तनाव, अवसाद और तमाम मानसिक व्याधियों से ग्रस्त होकर एक रोगग्रस्त (पैथलोजिकल) सभ्यता को जन्म दे रहा है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वर्तमान की इस विषम परिस्थितियों से उबरने के लिये हमें इतिहास में जाकर पुरातन संस्कृतियों में उपलब्ध उन संस्थापनाओं, प्रतीकों, अवधारणाओं का आलोचनात्मक मूल्यांकन और परिष्कार करना होगा जिनसे वर्तमान समाज में मानवीय मूल्यों की स्थापना हो सके। इस दिशा में यह पुस्तक हिंसा की अवधारणा का उत्खनन अवश्य ही करती है और मानव सभ्यता के ओझल हो रहे अहिंस्र और शुभ्र स्वरूप का न केवल प्रतिस्मरण बल्कि दृढ़ता से प्रस्तावित भी करती है।

दर्शन विभाग

पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़-160014

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी –

1. *श्रमण परम्परा और वैदिक (ब्राह्मण) परम्परा दोनों ही अति प्राचीन काल से चली आ रही हैं। इनमें अंतर यह है कि श्रमण परम्परा नास्तिक है और ब्राह्मण परम्परा आस्तिक। जो श्रुति (वेदों) में आस्था रखता है व श्रुति (वेदों) को अंतिम प्रमाण मानता है वह आस्तिक है और जो श्रुतियों में आस्था नहीं रखता वह नास्तिक है। श्रमण परम्परा श्रुति (वेदों) को अपौरुषेय नहीं मानती, अतः नास्तिक परम्परा है। वैदिक परम्परा ब्रह्म (विशुद्ध चेतना) को ही मोक्ष का आधार मानती है और वेदवाक्य को ही ब्रह्म–वाक्य मानती है। श्रमण परम्परा में श्रमण वह है जो निज श्रम द्वारा मोक्ष प्राप्ति के मार्ग को निकालता है और जिसके लिए जीवन में ईश्वर की नहीं बल्कि श्रम की आवश्यकता है। श्रमण परम्परा ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानती। श्रमण परम्परा का आधार .... श्रमण, समन, शमन .... इन तीन शब्दों पर है। 'श्रमण' का अर्थ है 'परिश्रम करना', 'समन' का अर्थ है, समताभाव, 'शमन' का अर्थ है अपनी वृत्तियों को शान्त रखना, उनका निरोध करना।*
2. *Erich Fromm (March 23, 1900 – March 18, 1980) was an internationally renowned German&American psychologist and humanistic philosopher- His psychological theories]although originating in Freudian psychoanalysis] focused on the self as a social being, using the capacity for reason and love to advance beyond instinctive behavior-Fromm believed that human beings need to be responsible for their own moral decisions] not just adhering to norms imposed by authoritarian systems- https://www-newworldencyclopedia-org/entry/Erich_Fromm*
3. *एरिक फ्रॉम के अनुसार – When man emerged, his behavior was little guided by his instinctive equipment- Aside from some elementary reactions, such as those to danger or to sexual stimuli, there is no inherited program that tells*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

him how to decide in most instances in which his life may depend on a correct decision- It would thus seem that, biologically, man is the most helpless and frail of all animal- (फ्रॉम 1973 : 133)

4. ह्यूम कहते हैं – *"Since reason alone can never produce any action, or give rise to volition, I infer] that the same faculty is as incapable of preventing volition] or of disputing the preference with any passion or emotion"*- देखें – (ह्यूम : 2007:266)

5. इस सम्बंध में देखें पुस्तक, वर्चु इज नॉलेज : द मोरेल फाउंडेशन ऑफ सोक्रेटीज, पैगले. ऐल. यस. (2014)

6. *In Arendt's view, human activities are divisible into two broadcategories, namely the practical and the theoretical- The formerare concerned with 'doing' and entail 'active engagement' withthe world; the latter are concerned with 'understanding' theworld-1 Arendt uses the terms vita activa and vita contempl ativa todescribe the ways of life devoted respectively to the pursuits of the two types of activities.* देखें– पारेख बी. (1981:103)

7. देखें– स्मिथ, ऐन. डी. (1983 122). ऐरिस्टॉटल थ्योरी ऑफ नैचुरल सलेवेरी, प्रोनिक्स, 37(2), 109–122. https://doi-org/10.2307/1087451

8. देखे केली,टी. (2011). *Following the argument where it leads-*

9. अयं निजःपरोवेत्ति गणना लघुचेतसाम् ।
उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।।

अर्थात् – यह मेरा है, यह पराया है इस प्रकार की गणना लघु चेतना वाले लोग करते हैं। उदार चरित्र वाले मनुष्यों के लिए तो पूरी पृथ्वी ही कुटुम्ब अर्थात् परिवार है।

10. करि कुरूप बिधि परबस कीन्हा। बवा सो लुनिअ लहिअ जो दीन्हा।।
कोउ नृप होउ हमहि का हानी। चेरि छाड़ि अब होब कि रानी।।
रामचरितमानस में मंथरा कह रही होती है। वो पूरे वाक्य में कहती है कि किसी के राजा होने से उसे क्या फर्क पड़ने वाला है? वो तो दासी ही रहेगी, रानी तो होगी नहीं!

11. *Lyotard famously defines the postmodern as ^incredulity towards metanarratives,* where metanarratives are understood as totalising stories about history and the goals of the human race that ground and legitimise knowledges and cultural practises- The two metanarratives that Lyotard sees as having been most important in the past are (1) history as progressing towards social enlightenment and emancipation, and (2) knowledge as progressing towards totalisation- Modernity is defined as the age of metanarrative legitimation, and postmodernity as the age in which metanarratives have become bankrupt- Through his theory of the end of*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

metanarratives, Lyotard develops his own version of what tends to be a consensus among theorists of the postmodern – postmodernity as an age of fragmentation and pluralism- देखें – (आसले वुड़ वर्ड 2021)

12. हाइडेगर लिखते हैं – *'The compound expression Being- in -the -world' indicates in the very way we have coined it] that it stands for a unitary phenomenon- This is primary datum must be seen as a whole- But while Being -in-the -word cannot be broken up into contents which may be pieced together, this does not prevent it from having several constitutive items in its structure-ns,ksa* – (हाइडेगर, 2008 : 78)
13. *The supremacy of conscience in human nature can also be shown by a comparison of the constitutions and natures of animals with human nature- Animals are driven by principles similar to (or identical to) those that give rise to human actions: they share many of our passions and they too are driven by self&interest- When animals act according to these principles they act appropriately to their natures (in senses N1 and N2)- But humans have a principle; conscience, which animals lack- This suggests that humans do not act suitably to what is distinctive to their whole nature, and in particular suitable to that end which draws on many of the principles of human nature when they act only from those principles that they share with animals and not according to conscience-* देखें–(गेरेंट्ट अरान 2018)
14. *In describing humans as political] Aristotle might be taken to mean that anyhuman being is bound to have strong emotional attachments to others in away that will then bind the happiness of those others to one's own-* देखें – (रॉबर्ट, जे. 1989 : 190)
15. वैदिक साहित्य में ऋत शब्द का प्रयोग सृष्टि के सर्वमान्य नियम के लिए हुआ है। संसार के सभी पदार्थ परिवर्तनशील हैं किंतु परिवर्तन का नियम अपरिवर्तनीय नियम के कारण सूर्य और चंद्र गतिशील हैं। संसार में जो कुछ भी है वह सब ऋत के नियम से बँधा हुआ है। ऋत को सबका मूल कारण माना गया है। अतएव ऋग्वेद में मरुत् को ऋत से उद्भूत माना है। 1, विष्णु को ऋत का गर्भश् माना गया है। द्यौ और पृथ्वी ऋत पर स्थित हैं। 2, संभव हैं, ऋत शब्द का प्रयोग पहले भौतिक नियमों के लिए किया गया हो लेकिन बाद में ऋत के अर्थ में आचरण संबंधी नियमों का भी समावेश हो गया। उषा और सूर्य को ऋत का पालन करने वाला कहा गया है। इस ऋत के नियम का उलंघन करना असम्भव है। अधिक जानकारी के लिए देखे– *https://m-bharatdiscovery-org/india*
16. पूर्व में जगन्नाथपुरी, पश्चिम में द्वारिकापुरी उत्तर में बदरीनाथ, एवं दक्षिण में रामेश्वरम के रूप में क्रमशः चार मठों गोवर्धन, शारदा, ज्योतिर एवं ऋंगेरी की स्थापना कर भारतवर्ष को एकता के सूत्र में पिरोने का कार्य किया है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संदर्भित ग्रन्थ –

आसले वुड़ वर्ड (2021)'जीन फ्रैंकोइज लियोटार्ड' (एंट्री इन) द इंटर्नेट एन्साइक्ल पीडीआ ऑफ़ फिलासफी ISSN 2161&0002] https://iep-utm-edu/, 2021

आरेंट हन्ना (1969) ऑन वायलेन्स, न्यूयॉर्क हार्ट कोर्ट ब्रेस जोहनोविच पब्लिकेशन।

– (1973) द ओरिजिन ऑफ टोटेलिटेंरीनिज़्म, न्यूयॉर्क हार्ट कोर्ट ब्रेस जोहनोविच पब्लिकेशन।

– (1998) दा ह्यूमन कंडिशन, शिकागो, यूनिवर्सिटी आफ शिकागो प्रेस।

दत्त एवं शर्मा (2021) हन्ना आरेंट : हिंसा का उत्खन्न, जयपुर : प्राकृत भारती अकादमी।

डार्विन चाल्स (1998) ऑन दी ओरिजिन ऑफ स्पीसीज, न्यूयार्क ऑक्सफोर्ड वर्ल्ड क्लासिक।

फ्रार्म, ई. (1973) द क्वेस्चन ऑफ ह्यूमन नेचर, क्रॉस करेंट, 23 (2) 129 –139 http://www-jstor-org/stable/24457838

गेरेंट्ट अरान, (स्प्रिंग 2018 इडिशन) 'जोसेफ बट्लर मोरल फिलासफी' द स्टैंड़फर्ड एन्साइक्लोपीडीआ ऑफ फिलासफी, एड़वर्ड, एन जल्टा (सम्पादक)। URL (<https://plato-stanford-edu/ archives/spr2018/entries/ butler-moral/

हाइड़ेगर (2008) बीइंग एंड टाईम (अनुवादक जान मक्वॉरी एवं एड़वर्ड रॉबिन्सन) नयी दिल्ली : हापर एंड रो पब्लिशर।

ह्यूम (2007) अ ट्रीटाइज ऑन ह्यूमन नेचर, न्यूयॉर्क, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

केली, टी. (2011) फालोईंग द आर्ग्युमेंट व्हेयर ईट लीड्स, फिलॉसॉफिकल स्टडीज, एन इंटर्नैशनल जर्नल ऑफ फिलासफी इन द ऐनलिटिकल ट्रडिशन, 154 (1), 105–124 . http://www-jstor-org/stable/ 41487655

माओ ते तुंग (1965) सिलेक्टेड वर्क्स वॉल्यूम 1 पेकिंग, फारेंन लैंग्विज प्रेस।

पंगले, एल. एस. (2014) वर्चू इज नॉलेज, द मोरेल फाउंडेशन आफ सोक्रिटीज पोलिटिकल फिलासफी, शिकागो, लंदन।

पारेख बी. (1981–103) द वीटा एक्टिवा एंड थे वीटा कोंटेम्पलेटिवा इन हन्ना आरेंट एंड सर्च फोर न्यूपोलिटिकल फिलासफी लंदन, पालग्रेव A https://doi-org/10-1007 / 978.1.349.05747.4–5

रॉबर्ट, जे (1989) पलिटिकल ऐनिमल इन दी निकोमेकियन एथिक्स, प्रोनेसिस,34 (2), 185–204 34. http://www-jstor-org/stable/4182330

स्मिथ, ऐन. डी(1983). ऐरिस्टॉटल थ्योरी ओफ नैचुरल सलेवेरी,प्रोनेसिस,, 37(2), 109–122. https://doi-org/10-2307@1087451

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ISSN 0974 0053